सनातन धर्म — एक जिया हुआ अनुभव (श्रृंखला)

कृष्ण जीवन

प्रेमयोगी वज्र

लीला, रस, भक्ति और समाधि के माध्यम से

चेतना का विकास

कृष्ण जीवन

सनातन धर्म – एक जिया हुआ अनुभव (श्रृंखला)

खंड 2

लीला, रस, भक्ति और समाधि के माध्यम से चेतना का विकास

प्रेमयोगी वज्र

भूमिका

यदि अध्यात्म मंदिरों, विधियों या त्याग से नहीं,
बल्कि खेल, प्रेम, भ्रम, असफलता और साधारण जीवन से शुरू होता हो–
तो?

सनातन धर्म मूलतः मान्यताओं की प्रणाली नहीं था।
वह अनुभव था–सीधा, जीवंत और रूपांतरित करने वाला।
कृष्ण-जीवन उसी मूल भाव की ओर लौटने का एक प्रयास है।

यह पुस्तक किसी सिद्धांत को स्थापित करने नहीं आई है।
यह किसी मार्ग का उपदेश नहीं देती।
यह केवल यह दिखाती है कि जब जीवन को पूरी ईमानदारी, तीव्रता और जागरूकता के साथ जिया जाए, तो चेतना स्वयं कैसे विकसित होती है।

इस खंड में लेखक की यात्रा बाल्यकाल के खेल से, किशोरावस्था के आकर्षण से, प्रेम की गहराई से होकर आंतरिक जागरण और उसके बाद आने वाली शांति तक बहती है। यह यात्रा किसी योजना से नहीं, बल्कि जीवन की स्वाभाविक लय से आकार लेती है।

यहाँ कृष्ण किसी पूजनीय प्रतिमा के रूप में नहीं, बल्कि एक *जीवन-सिद्धांत* के रूप में उपस्थित हैं–
जहाँ *लीला* जीवन के साथ खेलना है,
जहाँ *रस* अनुभव का स्वाद है,
जहाँ प्रेम बंधन नहीं बनता,
और जागरूकता संसार से भागती नहीं।

कृष्ण-जीवन का अर्थ न तो अनुष्ठान है, न वैराग्य।
यह वह अवस्था है जहाँ व्यक्ति संसार की ऊँचाइयों को छूता है–
और फिर वहीं स्थिर होकर खड़ा होना सीखता है।

इस पुस्तक में ऐसे प्रश्न उभरते हैं, जिन पर प्रायः स्पष्टता से बात नहीं की जाती:

- कैसे प्रेम चेतना को बाँधता नहीं, जगाता है
- कैसे आकर्षण ऊर्जा को नष्ट नहीं, परिष्कृत करता है
- कैसे जागरण बिना जानबूझे साधना के भी घट सकता है
- कैसे मधुरता के बाद शक्ति का जन्म होता है
- और क्यों आध्यात्मिक परिपक्वता संसार से पलायन नहीं, बल्कि पूर्ण सहभागिता है

कथा आनंद, भ्रम, असफलता, तेजस्विता और मौन के क्षणों से गुजरती है–
यह दिखाते हुए कि जब चेतना को स्वाभाविक रूप से परिपक्व होने दिया जाए, तो वह स्वयं अपना मार्ग खोज लेती है। योग यहाँ तकनीक नहीं, बल्कि जीवन की तीव्रता का परिणाम बनकर उभरता है।

यह पुस्तक उनके लिए है जिन्होंने जीवन को गहराई से जिया है–
प्रेम किया है, टूटे हैं, उठे हैं–
और फिर भी सत्य की ओर आकर्षित हैं।

कृष्ण-जीवन न प्रेरणादायक भाषण है,
न निर्देश पुस्तिका,
न धार्मिक प्रचार।

यह जीवन के माध्यम से चेतना के विकास की एक शांत, निडर और मानवीय खोज है।

यदि आपने कभी महसूस किया है कि सत्य को जिया जा सकता है–
सिर्फ बताया नहीं–
तो यह पुस्तक आपको जानी-पहचानी, असहज और फिर भी गहराई से अपनी लगेगी।

कॉपीराइट © 2026 प्रेमयोगी वज्र
सर्वाधिकार सुरक्षित।

इस पुस्तक का कोई भी भाग लेखक की पूर्व लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में या किसी भी माध्यम से—चाहे वह इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटोकॉपी, रिकॉर्डिंग या अन्य कोई तरीका हो—पुनः प्रस्तुत, संग्रहित या प्रसारित नहीं किया जा सकता। केवल समीक्षाओं या शैक्षणिक संदर्भों में प्रयुक्त संक्षिप्त उद्धरण इसके अपवाद हैं।

कानूनी अस्वीकरण

यह पुस्तक जीवन में घटित अनुभवों, दार्शनिक चिंतन और व्यक्तिगत अवलोकन पर आधारित एक रचना है। इसका उद्देश्य किसी भी प्रकार का धार्मिक उपदेश, चिकित्सीय सलाह, मनोवैज्ञानिक उपचार, कानूनी मार्गदर्शन या पेशेवर परामर्श प्रदान करना नहीं है।

इसमें वर्णित अनुभव, व्याख्याएँ और अंतर्दृष्टियाँ लेखक की व्यक्तिगत यात्रा और समझ को प्रतिबिंबित करती हैं। पाठकों से अपेक्षा की जाती है कि वे इसे पढ़ते और समझते समय अपने विवेक और निर्णय का प्रयोग करें। प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव भिन्न हो सकता है, और किसी भी प्रकार के परिणाम की कोई गारंटी नहीं दी जाती।

यह पुस्तक किसी विशेष आध्यात्मिक साधना, ध्यान-पद्धति, योगिक विधि या जीवन-शैली का प्रचार या निर्देश नहीं देती। योग, चेतना, आध्यात्म या आंतरिक अनुभव से संबंधित सभी संदर्भ वर्णनात्मक हैं, न कि निर्देशात्मक या अनिवार्य।

इस पुस्तक की सामग्री को पढ़ने, समझने या लागू करने से उत्पन्न किसी भी शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, आध्यात्मिक या सामाजिक परिणाम के लिए लेखक और प्रकाशक कोई उत्तरदायित्व नहीं लेते।

स्वास्थ्य एवं आध्यात्मिक अभ्यास संबंधी सूचना

परिवर्तित चेतना अवस्थाओं, ध्यान-सदृश अनुभवों, योगिक अवधारणाओं या आंतरिक घटनाओं से जुड़े संदर्भ केवल कथात्मक और दार्शनिक उद्देश्य से प्रस्तुत किए गए हैं। यदि किसी पाठक को किसी प्रकार का मानसिक तनाव, भ्रम या स्वास्थ्य संबंधी समस्या अनुभव हो, तो उन्हें योग्य चिकित्सकीय, मनोवैज्ञानिक या अन्य पेशेवर सहायता लेने की सशक्त सलाह दी जाती है।

यह पुस्तक किसी भी प्रकार की पेशेवर देखभाल, मार्गदर्शन या निदान का विकल्प नहीं है।

गैर-संबद्धता सूचना

यह पुस्तक किसी भी धार्मिक संगठन, आध्यात्मिक संस्था, योग विद्यालय, परंपरा, संप्रदाय या प्राधिकरण से न तो संबद्ध है, न ही उनके द्वारा अनुमोदित या उनका प्रतिनिधित्व करती है। सांस्कृतिक, पौराणिक या शास्त्रीय विषयों के संदर्भ प्रतीकात्मक और व्याख्यात्मक रूप में प्रयुक्त किए गए हैं, न कि सिद्धांतात्मक रूप में।

बौद्धिक संपदा सूचना

इस पुस्तक में वर्णित सभी पात्र, अनुभव, व्याख्याएँ और कथात्मक संरचनाएँ—जब तक स्पष्ट रूप से अन्यथा न कहा गया हो—लेखक की बौद्धिक संपदा हैं। किसी भी जीवित या दिवंगत व्यक्ति, संस्था या घटना से समानता मात्र संयोगवश या प्रतीकात्मक है।

संस्करण सूचना

यह लेखक का मौलिक संस्करण है। भविष्य के संस्करणों में स्पष्टता, भाषा या स्वरूप के लिए छोटे-मोटे संशोधन किए जा सकते हैं, किंतु मूल विषयवस्तु या उद्देश्य में कोई परिवर्तन नहीं किया जाएगा।

प्रथम संस्करण
मुद्रण: NA
ISBN: NA

पुस्तक : भाग एक
योगी से पूर्व लीला
कैसे खेल चेतना बना

विषयसूची :

अध्याय 0: **बाला-प्रेमयोगी** – खेलपूर्ण आरंभ
अध्याय 1: **मोहन** – वह तूफ़ान जिसने बांसुरी को आकार दिया
अध्याय 2: **पीछे हटने की कला**
अध्याय 3: **जंगल की दावतें और शक्ति का स्वाद**
अध्याय 4: **पवित्र सरोवर और भय का सर्प**
अध्याय 5: **वह सर्प जिसे खींचना नहीं चाहिए**
अध्याय 6: **दो बैल और मौन संहिता**
अध्याय 7: **लीला के भीतर चेतना** – प्रेमयोगी वज्र का निर्माण
अध्याय 8: **योगी के जन्म से पहले**

अध्याय 0
बाला-प्रेमयोगी – खेलपूर्ण आरंभ

आकर्षण के हृदय को जटिल बनाने से पहले, अनुशासन के रीढ़ को सीधा करने से पहले, और आंतरिक संघर्ष के मन को कसने से पहले–केवल खेल था। वह सुरक्षित बच्चों का छोटा, संकोची खेल नहीं था, बल्कि एक जंगली, संक्रामक और उमड़ता हुआ खेल था, जिसके चारों ओर कोई दीवारें नहीं थीं। उसमें गोबर और गीली घास की गंध थी, भुने हुए मक्के और जंगल के धुएँ की खुशबू थी। वह गरम पत्थरों पर नंगे पाँव दौड़ता था और ठंडे तालाबों में बेझिझक फिसल जाता था। वह ज़ोर से हँसता था और जल्दी भूल जाता था। यही वह मिट्टी थी जिसमें प्रेमयोगी पला-बढ़ा।

वह रहस्यमय बनकर जन्मा नहीं था। वह खुलेपन के साथ जन्मा था।
जो आगे चलकर उसमें गहराई बनने वाला था, उसका आधा भाग पहले से ही कोमलता के रूप में मौजूद था–एक स्वाभाविक निष्कपटता, एक शांत मुस्कान, मनुष्यों और पशुओं दोनों के साथ सहजता। गायें उस पर भरोसा करती थीं। छोटे बच्चे उसके पीछे-पीछे चलते थे। बड़े-बुज़ुर्ग उसे देर तक डाँट नहीं पाते थे, क्योंकि उसकी आँखें बहस नहीं करती थीं। लेकिन दूसरा आधा–अग्नि–उसके जीवन में मोहन के रूप में प्रवेश किया।

मोहन ऐसे आया जैसे ऋतु का पालन न करने वाला मानसून। वह थोड़ा बड़ा था, तीखी आँखों वाला, बेचैन, और अपने गाँव में पहले से ही उपद्रव के लिए प्रसिद्ध। माता-पिता को सीमा से परे थका देने के बाद वह प्रेमयोगी के घर रहने आया। उसने अजनबियों पर केवल उनकी प्रतिक्रिया देखने के लिए पत्थर फेंके थे। एक बार उसने अपने ही अध्यापक के सिर पर सटीक निशाने से वार किया था–न घृणा से, बल्कि रोमांच से। मार उसे डराती नहीं थी। चेतावनियाँ उसे ढाल नहीं पाती थीं। अनुष्ठान उसे शांत नहीं करते थे। जब कुछ भी काम न आया, तो उसके माता-पिता ने उसे यह सोचकर भेज दिया कि कोई अधिक अनुशासित घर शायद उसे तराश दे।

उससे वह थोड़ा नरम पड़ा। पर वह वश में नहीं आया।

प्रेमयोगी के लिए मोहन समस्या नहीं था। वह प्रकाशन था।

कुछ ही हफ्तों में मोहन ने आसपास के खेतों में गायें चराने वाले लड़कों को इकट्ठा कर एक ढीला-ढाला, हँसता हुआ समूह बना लिया। प्रेमयोगी पहले जिज्ञासा से, फिर आनंद से उसके पीछे गया। पहाड़ियाँ उनका राज्य बन गईं। गायें जिम्मेदारी नहीं थीं; वे साथी थीं। यदि कोई झुंड किसी दूसरे किसान के हरे खेत में बहककर शांति से चरने लगता, तो लड़के झाड़ियों के पीछे छिपकर दूर से देखते, किसान की गुस्से भरी पुकार का इंतज़ार करते। रोमांच विनाश में

नहीं, प्रतिक्रिया में था। उन्होंने पीछा और बच निकलने की लय सीख ली। डाँट पड़ते ही ढलान की ओर दौड़ना। बिखर जाना। बरगद के पेड़ के पास फिर जुट जाना।

कुछ दोपहरों में वे छोड़े गए घर-बागानों पर धावा बोलते, टूटी दीवारों के ऊपर से लटकते केले तोड़ लेते। अन्य दिनों में वे पहाड़ी चोटी के मक्के के खेतों में चढ़ जाते, डंठलों से ताज़े भुट्टे मरोड़कर निकालते, उन्हें अपनी कमीज़ों में छिपाते और जंगल ले जाते। वहाँ सूखी टहनियों से छोटी आग जलाते, मक्के को तब तक भूनते जब तक दाने काले न पड़ जाएँ, और राजाओं की तरह खाते। उनके हाथ कालिख से काले हो जाते, दाँत भुने दानों से पीले, और आँखें अपनी ही बनाई दावत के आनंद से चमक उठतीं।

एक बार उन्होंने एक पुजारी-बुआ की कर्मकाण्ड की भेंट से गुड़ और नारियल चुरा लिए। इसलिए नहीं कि वे भूखे थे—घर पर भोजन था—बल्कि इसलिए कि वर्जित मिठास का स्वाद अलग होता है। उन्होंने अनुष्ठान का मज़ाक नहीं उड़ाया। उन्होंने उसे अपने ढंग से मनाया—चट्टान पर नारियल तोड़ते हुए और गुड़ को असमान टुकड़ों में बाँटते हुए हँसते रहे। उनमें कोई अपराध-बोध नहीं था, केवल उल्लास। जीवन उनके लिए प्रचुर था।

प्रेमयोगी सब कुछ आत्मसात करता गया। वह उतनी ही ज़ोर से हँसा, उतनी ही तेज़ दौड़ा, उतनी ही भूख से मक्का भुना। फिर भी भीतर कहीं एक शांत दर्शक बैठने लगा था। जब मोहन सीमा बहुत आगे बढ़ा देता, प्रेमयोगी आधा कदम पीछे हट जाता। जब अव्यवस्था ऊँची उठती, वह उसके टूटने से पहले ही उसकी चोटी को भाँप लेता। उसने मोहन को एक से अधिक बार बचाया—किसान की लाठी पड़ने से पहले उसे खींच लिया, बुज़ुर्गों तक शिकायत पहुँचने से पहले चेतावनी दे दी—पर उसने कभी मूर्खता से स्वयं को जोखिम में नहीं डाला। वह पूरी तरह खेलता था, पर अंधा होकर नहीं।

कुछ क्षणों में उनकी निष्कपटता अजीब मोड़ ले लेती। एक बार मोहन ने लड़कों के एक समूह को यह यक़ीन दिला दिया कि कैक्टस पौधे का सफ़ेद, दूधिया रस शक्ति और वृद्धि की एक गुप्त औषधि है। प्रयोग सूजन, घबराहट, आँसू और गुस्साए माता-पिता पर आकर समाप्त हुआ। पूरा गाँव आक्रोश से गूँज उठा। शुरुआत में प्रेमयोगी हँसा था, पर जैसे-जैसे अव्यवस्था बढ़ी, उसने कुछ और देखा—समझ के बिना ऊर्जा जलाती है। वह पाठ बिना उपदेश, बिना प्रवचन, चुपचाप उसके भीतर उतर गया।

वे पहाड़ियों पर बैलों की लड़ाइयाँ कराते, पशुओं के सींग टकराने पर शोर मचाते और जयकार करते। वे चट्टानों के बीच छिपे एक ठंडे तालाब में नंगे नहाते, आकाश की ओर गूँजती आवाज़ें उछालते। उस तालाब की अपनी रहस्यमयता थी। एक कोने में एक गहरा गड्ढा था जहाँ गाँव वाले कहते थे कि एक नागदेवता रहता है। किसी ने उसे स्पष्ट नहीं देखा था, फिर भी सब मानते थे। भय और आकर्षण साथ-साथ रहते थे।

एक दोपहर मोहन तालाब के ऊपर झुकी एक डाल पर चढ़ा और नाटकीय ढंग से उसके बीचोंबीच कूद पड़ा। पानी ने उसे निगल लिया। सेकंड बीतते गए। फिर और सेकंड। हँसी सन्नाटे में बदली। सन्नाटा घबराहट में। कुछ लड़कों ने उसका नाम पुकारा। एक गाँव की ओर दौड़ा। किसी ने फुसफुसाया कि सर्प उसे ले गया।

प्रेमयोगी ने कुछ अपरिचित अनुभव किया—ऊँचा शोर नहीं, बल्कि गहरी स्थिरता। जब अन्य घबरा रहे थे, वह पानी की सतह को देख रहा था। उसने किसी के देखने से पहले ही हलचल को महसूस किया। अचानक मोहन उभरा—बाल माथे से चिपके, विजयी योद्धा की तरह मुस्कराता हुआ। लड़के राहत से चीख पड़े। भय प्रशंसा में घुल गया।

पर प्रेमयोगी के भीतर कुछ खिसक गया था। पहली बार उसने हानि के किनारे को छुआ था और उसमें डूबा नहीं था। एक शांत केंद्र स्वयं को प्रकट कर चुका था।

उन वर्षों में डाँट अनंत थीं। मार-पीट सामान्य थी। चेतावनियाँ रोज़मर्रा की थीं। फिर भी खेल रुका नहीं। वह परिष्कृत होता गया। हर बच निकलना समय-बोध को तेज़ करता गया। हर फटकार ने वैराग्य बनाया। हर जंगल की आग ने स्वामित्व के बिना आनंद सिखाया। हर निकट-खतरे ने मूर्खता के बिना निर्भयता गढ़ी।

मोहन तूफ़ान बना रहा। प्रेमयोगी आकाश बना रहा।

वह कभी मोहन जितना उच्छृंखल नहीं हुआ, फिर भी उसने उसे कभी नकारा नहीं। उसने उसे जज नहीं किया। उसने उससे सीखा। मोहन कच्ची अग्नि लेकर चलता था—अपूर्वानुमेय, विस्फोटक। प्रेमयोगी ने उस अग्नि को अदृश्य आकार दिया। उसने जाना कि कहाँ रुकना है, कहाँ कोमल होना है, और कहाँ अव्यवस्था को विनाश के बजाय हँसी में घुल जाने देना है।

वर्षों बाद, जब ऊर्जा उसके भीतर प्रबलता से उठेगी, जब आकर्षण ज़ोर से खींचेगा, जब मन कसेगा और त्याग उसे जीवन से हटने का लोभ देगा—तब उसे शास्त्र नहीं बचाएँगे। उसे ये पहाड़ियाँ बचाएँगी, ये चुराए गए फल, ये जंगल की दावतें। डाँट के बाद हँसने की स्मृति, भय के बाद तैरने की स्मृति, अपराध-बोध के बिना मिठास चखने की स्मृति।

खोजी बनने से पहले वह मुक्त बना।
योगी बनने से पहले वह खेलपूर्ण बना।
ध्यान में परिपक्व होने से पहले चेतना शरारत के भीतर सहज संतुलन के रूप में मौजूद थी।

इसीलिए यह बड़े यात्रा-वृत्तांत में अध्याय शून्य है। क्योंकि यहाँ, धूल, धुएँ और हँसी के बीच, कृष्ण-सिद्धांत का मूल—चमत्कार का नहीं, दिव्य लीला का—एक गाँव के लड़के के भीतर चुपचाप इकट्ठा होता गया। आधी कोमलता, आधा तूफ़ान। आधी निष्कपटता, आधी अग्नि।

रहस्यवादी बाद में आएगा।

पहले वह बच्चा आया जो खेलना जानता था–और जिसने खेलना कभी नहीं भुलाया।

अध्याय 1

मोहन – वह तूफ़ान जिसने बांसुरी को आकार दिया

यह अध्याय पूरी तरह से प्रकाश मोहन पर डालता है–केवल गाँव के एक शरारती लड़के के रूप में नहीं, बल्कि प्रकृति की एक ऐसी शक्ति के रूप में, जिसने ठीक उसी समय प्रेमयोगी के जीवन में प्रवेश किया जब निष्कपटता को अग्नि की आवश्यकता थी। यदि पहला अध्याय खेल को आधार के रूप में दिखाता है, तो यह अध्याय बताता है कि वही खेल ध्रुवता के माध्यम से तीव्रता, दिशा और छिपी हुई गहराई कैसे प्राप्त करता है। मोहन अनियंत्रित शक्ति, अर्थात् कच्ची शक्ति (Shakti) का प्रतिनिधित्व करता है–कच्ची प्रेरणा, निर्भीक विघटन और विस्फोटक जीवन-ऊर्जा। प्रेमयोगी कोमलता और मौन आत्मसात का प्रतीक है। इन दोनों के बीच धीरे-धीरे एक लय बनने लगती है। यह अध्याय इस बात की खोज करता है कि अव्यवस्था कैसे गुरु बनती है, खतरे के प्रति आकर्षण कैसे सजगता को तीक्ष्ण करता है, और शक्ति तथा संयम के बीच भविष्य का संतुलन बचपन में ही चुपचाप कैसे गढ़ा जाता है।

मोहन प्रेमयोगी के घर किसी साधारण अतिथि की तरह नहीं आया। वह मौसम की तरह आया। उसकी ख्याति पहले ही पहुँच चुकी थी–ऐसा लड़का जो क्रूरता से नहीं, रोमांच से पत्थर फेंकता था, जिसने एक बार अपने ही अध्यापक के सिर पर इतनी सटीक चोट की थी कि पूरा गाँव कई दिनों तक उसी की चर्चा करता रहा। वह क्रोधित नहीं था। वह बेचैन था। उसे सत्ता से घृणा नहीं थी; वह बस उसके भीतर समाने से इंकार करता था। उसके माता-पिता ने सब कुछ आज़मा लिया था–डाँटना, मारना, समझाना, यहाँ तक कि बुज़ुर्गों द्वारा सुझाए गए अनुष्ठान भी। कुछ भी उसकी तीव्रता को कम नहीं कर सका। अंततः थककर और हार मानकर उन्होंने उसे उसकी बुआ के यहाँ भेज दिया–प्रेमयोगी की दादी के घर–यह आशा करते हुए कि अनुशासन और दूरी उसे ज़मीन पर उतार देंगी।

यह भी उल्लेखनीय था कि जब एक बार प्रेमयोगी को उसकी बुआ के घर ले जाया गया, तो उसकी माँ ने सहज रूप से उससे पूछा कि क्या वह वहाँ स्थायी रूप से रहना चाहेगा। आश्चर्य की बात यह थी कि वह बिना किसी हिचक के, प्रसन्नता से सिर हिला कर सहमत हो गया। इतने चंचल, शरारती और गति से जुड़े बच्चे से ऐसी तत्परता की कोई स्पष्ट वजह दिखाई नहीं देती थी। क्या वह उस स्थान की किसी चीज़ से आकर्षित हुआ था, या प्रेमयोगी की उपस्थिति ही उसे परिचित और सुरक्षित लगती थी, या फिर कुछ और अधिक सूक्ष्म था–ऐसी पहचान, जो विचार के रास्ते से नहीं गुजरती?

यह लगभग प्रतीकात्मक लगता था, मानो उसकी उपस्थिति आसपास के लोगों की आंतरिक दुनिया को चुपचाप पुनर्व्यवस्थित कर देती हो। कृष्ण के अवतरण की कथाओं में कहा जाता

है कि जब वे वृंदावन आए, तो देवता भी उनके साथ आए–हमेशा दिव्य रूपों में नहीं, बल्कि ग्वाल-बालों, बछड़ों, घास, वृक्षों, लताओं और नदियों के रूप में। उनके आसपास सब कुछ एक ही लय में भाग लेता हुआ प्रतीत होता है, मानो किसी अदृश्य आकर्षण से खिंच गया हो। संभव है कि इस क्षण में उसी प्रतिरूप की एक क्षीण प्रतिध्वनि रही हो–मिथक की पुनरावृत्ति के रूप में नहीं, बल्कि एक मनोवैज्ञानिक सत्य के पुनः प्रकट होने के रूप में। कुछ उपस्थितियाँ मनाती नहीं हैं; वे दूसरों को सहज होने देती हैं। कुछ अस्तित्व आसक्ति की माँग नहीं करते; वे अपनापन आमंत्रित करते हैं। उस बच्चे ने कोई तर्क नहीं किया। उसने केवल कोई प्रतिरोध अनुभव नहीं किया।

ऐसे क्षणों को पूरी तरह समझाया नहीं जा सकता। वे स्वयं को आध्यात्मिक घटनाओं के रूप में घोषित नहीं करते। वे चुपचाप गुजर जाते हैं और पीछे केवल एक प्रश्न छोड़ जाते हैं–क्या कभी-कभी आकर्षण समझ से पहले आता है, और क्या पहचान शब्दों, स्मृति या पहचान बनने से बहुत पहले भी उत्पन्न हो सकती है?

एक और उल्लेखनीय तथ्य यह था कि प्रेमयोगी के प्रारंभिक जीवन में उसके चारों ओर बच्चों का एक विशेष समूह लगातार मौजूद रहा–लगभग समान आयु के लड़के और लड़कियाँ–जो पास के गाँवों, दूर के टोलों और यहाँ तक कि दूरस्थ नगरों में रहने वाले रिश्तेदारों के घरों से भी जुड़े थे। उनमें से अधिकांश न तो उससे छोटे थे और न ही बहुत बड़े, बल्कि प्रायः छह महीने से दो वर्ष तक बड़े होते थे। यह प्रतिरूप इतनी बार दोहराया गया कि इसे संयोग कहकर टालना कठिन था। क्यों थोड़े बड़े–और छोटे नहीं? क्यों बहुत बड़े नहीं? ऐसा लगता था कि यह सूक्ष्म अंतर कई उद्देश्यों को एक साथ पूरा करता था। वे उसके साथ बराबरी से खेल सकते थे, फिर भी स्वाभाविक रूप से उसकी रक्षा, मार्गदर्शन, सुधार और देखभाल कर सकते थे। मित्रता और मार्गदर्शन बिना किसी पदानुक्रम के साथ-साथ बहते थे। न उस पर ज़िम्मेदारी का बोझ था, न ही वह उपेक्षित था। सभी लाभ बिना किसी जानबूझकर योजना के एक साथ उत्पन्न हो जाते थे।

जन्म से ही विकसित हुई इस स्पष्टता की आदत के कारण प्रेमयोगी को कभी-कभी गलत समझ लिया जाता था। उसकी स्वाभाविक खुली प्रकृति को भक्ति की कमी समझ लिया जाता, और उसकी स्पष्टता को तत्काल वरिष्ठों के प्रति असम्मान मान लिया जाता। उसमें जो भय और दिखावे का अभाव था, वह दूसरों को श्रद्धा के अभाव जैसा लगता, जबकि भीतर उसकी कोई प्रतिरोध, विद्रोह या दुर्भावना नहीं थी–केवल एक अनगढ़ ईमानदारी थी, जो वहाँ समर्पण का अभिनय करना नहीं जानती थी जहाँ वह वास्तविक रूप से अनुभव नहीं होता था।

यही प्रतिरूप कृष्ण के जीवन में भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यद्यपि उन्हें ग्वालों में सबसे छोटा बताया गया है, फिर भी वे अपने समान आयु या थोड़ा बड़े ग्वाल-बालों से घिरे रहते थे। वे उसके साथ खेलते, उससे बहस करते, उसका अनुसरण करते, उसकी रक्षा करते और अनजाने में उसकी लीला को आकार देते। उनकी उपस्थिति ने निर्भरता के बिना संगति और बंधन के बिना निकटता प्रदान की। कृष्ण पर भी कंस और यहाँ तक कि इंद्र के अपमान का आरोप लगा—अहंकार या विद्रोह से नहीं, बल्कि इसलिए कि उनकी स्पष्टता और खुलापन सत्ता से जुड़े लोगों की अपेक्षित अधीनता के प्रदर्शन से मेल नहीं खाते थे। जो पारदर्शिता थी, वह अधिकार में निवेशित लोगों को अवज्ञा जैसी प्रतीत होती थी।

ऐसी ही समरूपता लीना के जीवन में भी जन्म से दिखाई देती है। उसके नगर में भी लगभग समान आयु के लड़के-लड़कियों का एक घेरा मौजूद था, जो स्वाभाविक अंतःक्रिया का क्षेत्र बनाता था। जैसे राधा कभी अकेली नहीं रहीं, बल्कि सखियों के एक जीवंत नक्षत्र के भीतर गतिशील रहीं, वैसे ही लीना भी ऐसी ही सामाजिक ज्यामिति में स्थित प्रतीत होती थी। आकर्षण, संयम, प्रतिबिंब और दर्पण—all यह सब केवल इसी घेराव की उपस्थिति के कारण संभव हो सका। क्या यह संयोग था—या संरचना?

इस पुनरावृत्ति से एक गहरा प्रश्न उठता है। संभव है कि ऐसी व्यवस्थाएँ आकस्मिक न होकर कुछ प्रकार के आंतरिक विकास के लिए संरचनात्मक आवश्यकताएँ हों। जागरण केवल एकांत में ही नहीं होता; उसे प्रायः एक क्षेत्र की आवश्यकता होती है—एक संतुलित सामाजिक पारिस्थितिकी, जो पतन के बिना उत्तेजना, स्वामित्व के बिना निकटता और प्रभुत्व के बिना मार्गदर्शन प्रदान करे। इस दृष्टि से देखें तो कृष्ण-कथा मिथक से कम और समय के साथ दोहराया गया एक अध्ययन अधिक प्रतीत होने लगती है। जब समान विन्यास बार-बार प्रकट होते हैं—आयु-समूह, संबंधों का संतुलन, खेलपूर्ण निकटता, संयमित आकर्षण और क्रमिक परिष्कार—तो प्रतिरूप उभरते हैं। और जब ये प्रतिरूप व्यक्तियों और युगों में दोहराए जाते हैं, तो वे सिद्धांत बनते हैं। जब सिद्धांत जीवित सत्यापन से स्थिर होते हैं, तो वे ज्ञान बन जाते हैं। संभव है कि भागवत पुराण वास्तव में यही हो—केवल कथा नहीं, बल्कि आध्यात्मिक मनोविज्ञान का एक प्राचीन विश्वकोश, जिसे असंख्य जागरणों के अवलोकन से संकलित कर कथात्मक रूप दिया गया, ताकि वह स्मरणीय, संप्रेषणीय और पुनः जीया जा सके।

इस प्रकाश में प्रेमयोगी का जीवन कृष्ण की कथा की नकल नहीं करता। वह केवल उसी ज्यामिति में गिर पड़ता है। और ज्यामिति, एक बार खोज ली जाए, तो जहाँ भी परिस्थितियाँ अनुमति दें, स्वयं को दोहराती है।

नए घर के वातावरण ने मोहन को कुछ नरम किया, पर बहुत अधिक नहीं। तूफ़ान बना रहा। पहले ही सप्ताह से प्रेमयोगी उसे ध्यान से देखने लगा। मोहन चलता नहीं था; वह आगे

बढ़ता था। वह बैठता नहीं था; वह स्थान घेर लेता था। उसकी हँसी ऊँची थी, उसके साहस अधिक तीखे थे, और उसकी आँखें हमेशा कुछ बिगाड़ने की खोज में रहती थीं। जहाँ अन्य लोग समस्या देखते थे, प्रेमयोगी गति देखता था। उसमें कुछ ऐसा था जो इस कच्ची धारा की ओर खिंचता था। यह नकल नहीं थी। यह जिज्ञासा थी। निर्दोषता को अराजकता क्यों आकर्षित करती है? शायद इसलिए कि निर्दोषता अभी निर्णय नहीं करती। प्रेमयोगी को कोई नैतिक श्रेष्ठता का भाव नहीं था। उसे आकर्षण महसूस होता था।

मोहन में ऐसा साहस था जो पागलपन की सीमा को छूता था। वह अपने से दुगुने आकार के लड़कों को चिढ़ाता, भौंकते कुत्तों को उकसाता, यह देखने के लिए कि भागने से पहले वह कितनी नज़दीक जा सकता है, और दंड को ऐसे स्वीकार करता जैसे वह खेल का हिस्सा हो। वह परिणामों की गणना नहीं करता था। वह गति पर भरोसा करता था। प्रेमयोगी उसके साथ अक्सर जुड़ता—गायों के खेतों के अभियानों में, पहाड़ी भटकनों में, दिनचर्या की शरारती बाधाओं में—पर वह कभी पूरी तरह मोहन की शैली में घुल नहीं जाता था। उसके भीतर हमेशा एक पतला सा स्थान ऐसा रहता था जो अछूता रहता। जब मोहन का साहस बहुत ऊपर उठता, प्रेमयोगी की प्रवृत्ति उसे धीमा कर देती। वह अदृश्य सीमाएँ महसूस कर लेता, जब अन्य नहीं कर पाते। वह वही चुटकुले हँसता, वही दिशाएँ दौड़ता, पर भीतर कहीं वह देख भी रहा होता था।

एक बार मोहन ने पूरे समूह का साहस परखने के लिए दिनदहाड़े एक किसान के संरक्षित बाग में सीधे घुस जाने का निश्चय किया। उसने घोषणा की, "डरे तो हारे।" लड़के हिचके। प्रेमयोगी आगे बढ़ा, पर पूरा नहीं। वह सीमा के पास रुक गया और मोहन को भीतर गहराई तक जाते देखता रहा, फल तोड़ते हुए विजयी अतिशयोक्ति करता हुआ। जब किसान की चीख गूँजी, लड़के बिखर गए। मोहन ढलान की ओर फिसलता और हँसता हुआ भागा। प्रेमयोगी घबराया नहीं। उसने पहले से देखी हुई एक संकरी पगडंडी चुनी और दूसरों से पहले सुरक्षित खुली जगह पहुँच गया। बाद में, जब लड़के अपने बच निकलने का जश्न मना रहे थे, प्रेमयोगी ने कुछ सूक्ष्म समझा—साहस उत्तेजित करता है, पर दूरदृष्टि रक्षा करती है। उसने यह ऊँचे स्वर में नहीं कहा। उसने उपदेश नहीं दिया। उसने केवल याद रखा।

मोहन की ऊर्जा बिना आकार की हवा जैसी थी—शक्तिशाली, दिशाहीन, अधीर। प्रेमयोगी अनजाने में उस हवा के भीतर खोखला स्थान बनने लगा। जब मोहन की छेड़छाड़ क्रूरता की ओर बढ़ती, प्रेमयोगी स्वर बदल देता। वह मज़ाक को बढ़ा-चढ़ा कर स्वयं पर ले आता या ध्यान कहीं और मोड़ देता, ताकि लक्ष्य शर्मिंदगी से बच सके। वह उन्माद को हँसी में बदलना सीख रहा था। यह रणनीति नहीं थी। यह सहज संतुलन था।

यहीं बांसुरी का रूपक चुपचाप कथा में प्रवेश करता है। बांसुरी केवल लकड़ी का टुकड़ा है जब तक उसे खोखला न किया जाए। श्वास अकेली शोर है। लकड़ी अकेली मौन है। संगीत तब होता है जब बल रिक्तता से होकर गुज़रता है। मोहन श्वास था–तीव्र, अप्रत्याशित, बल से भरा। प्रेमयोगी बिना जाने स्वयं को खोखला कर रहा था। वह आघात को प्रतिक्रिया के बिना आत्मसात करता था। वह कसाव के बिना देखता था। उसी स्थान में लय बनने लगी।

एक दोपहर, जब मोहन ने आवेग में एक बड़े युवक को शारीरिक झड़प के लिए ललकारा, तनाव तेज़ी से फैल गया। वह युवक अधिक शक्तिशाली, अधिक क्रोधित और ज़ोर से वार करने को तैयार था। प्रेमयोगी सहजता से उनके बीच आ गया–अधिकार से नहीं, हास्य से। उसने हल्के स्वर में कहा, "अगर तुम इसे तोड़ दोगे, तो कल हमें मनोरंजन कौन देगा?" हँसी फूट पड़ी। बड़े युवक का क्रोध थोड़ा ढीला पड़ा। मोहन, अभी भी आवेश में, उस बदलाव को महसूस कर अपमान के बिना पीछे हट गया।

उस छोटे से क्षण ने एक महत्वपूर्ण बात उजागर की। प्रेमयोगी मोहन की अग्नि को दबा नहीं रहा था; वह उसे संतुलित कर रहा था। वह शक्ति को नकार नहीं रहा था; वह उसकी दिशा गढ़ रहा था। मनोवैज्ञानिक रूप से यहीं संतुलन आरंभ होता है–ध्यान-गुफाओं में नहीं, बल्कि खेल के मैदान की बातचीत में। प्रेमयोगी ने सीखा कि कच्ची प्रेरणा जीवन-ऊर्जा लाती है, पर अनियंत्रित प्रेरणा संबंधों को जला देती है। उसने सीखा कि पीछे हटना दुर्बलता नहीं है। उसने सीखा कि हस्तक्षेप टकरावपूर्ण नहीं, खेलपूर्ण भी हो सकता है।

समय के साथ, मोहन भी उसके आसपास अलग तरह से प्रतिक्रिया देने लगा। आज्ञाकारी नहीं, बल्कि लयात्मक रूप से। यदि प्रेमयोगी रुकता, मोहन उसे महसूस करता। यदि प्रेमयोगी हँसता, मोहन तीव्र होता। यदि प्रेमयोगी मौन होता, मोहन कभी-कभी पुनर्विचार करता। तूफ़ान को एक ऐसा आकाश मिल गया था जो उसका प्रतिरोध नहीं करता था।

यह ध्रुवता प्रेमयोगी के भविष्य के जीवन का बीज चुपचाप बो गई। आगे चलकर जब आकर्षण उसके भीतर अग्नि की तरह उठेगा, वह उससे डरेगा नहीं। वह पहले ही अग्नि के पास रह चुका था। जब त्याग उसे जीवन से पूरी तरह हटने का लोभ देगा, वह सहभागिता के रोमांच को याद रखेगा। वह जान चुका होगा कि दोनों अतियाँ–बेलगाम भोग और कठोर दमन –ऊर्जा को विकृत करती हैं। संतुलन समझौता नहीं है; वह लय है।

उन गाँव के वर्षों में किसी शास्त्र ने यह उसे नहीं समझाया। किसी बुज़ुर्ग ने दार्शनिक व्याख्यान नहीं दिए। पहाड़ियाँ, टकराव, हँसी और संकीर्ण बचाव–यही उसके गुरु थे। मोहन ने उसे बिना छननी की शक्ति का प्रत्यक्ष साक्षात्कार दिया। प्रेमयोगी ने उस शक्ति को मौन धारण दिया। तूफ़ान लुप्त नहीं हुआ। वह परिपक्व हुआ। और वह खोखली सरकंडा, जो उस लड़के के भीतर आकार ले रहा था, गहरी श्वास की प्रतीक्षा करता रहा।

मोहन के बिना प्रेमयोगी कोमल तो बन सकता था, पर नाज़ुक। प्रेमयोगी के बिना मोहन शक्तिशाली तो बन सकता था, पर विनाशकारी। साथ मिलकर उन्होंने अनजाने में एक बड़े सिद्धांत का अभ्यास किया—कि शक्ति को अनुग्रह बनने के लिए चेतना से मिलना आवश्यक है। इसलिए यह अध्याय आवश्यक है, सजावटी नहीं। यह दिखाता है कि योगी एकांत में जन्मा नहीं। वह विरोध से तराशा गया। सहभागिता और विरक्ति, शक्ति और संयम, उत्सव और मौन के बीच भविष्य का संतुलन—सब यहीं आरंभ हुआ, तूफ़ान और आकाश के तनाव में।

बांसुरी ने अभी गीत नहीं गाया था, पर उसे आकार दिया जा रहा था।

अध्याय 2
पीछे हटने की कला

यह अध्याय प्रेमयोगी के भीतर घट रहे सूक्ष्म रूपांतरण में और गहराई तक जाता है। यदि पिछले अध्याय में मोहन को तूफ़ान और प्रेमयोगी को आकार लेती हुई खोखली सरकंडा के रूप में देखा गया था, तो यह अध्याय दिखाता है कि वह खोखलापन कैसे एक सचेत कौशल में बदलने लगा। यहाँ ध्यान बड़े उपद्रवों या नाटकीय घटनाओं पर नहीं, बल्कि एक अधिक शांत और निर्णायक तत्व पर है—सही समय पर पीछे हटने की कला पर। छोटे किंतु अर्थपूर्ण प्रसंगों के माध्यम से प्रेमयोगी का आंतरिक साक्षी सशक्त होता जाता है। वह घटनाओं के घटित होने से पहले ही उनके परिणामों को भाँपने लगता है। यही वह चरण है जहाँ लय विवेक में बदलती है, और खेल स्वयं को परिष्कृत करते हुए चेतना में ढलने लगता है।

अब तक गाँव मोहन की उपस्थिति का अभ्यस्त हो चुका था। लोग जानते थे कि उसके आसपास होने पर कुछ न कुछ गड़बड़ अवश्य होगी। यदि लड़कों का कोई समूह उसके इर्द-गिर्द जमा होता, तो बड़े लोग सतर्क हो जाते। किंतु अजीब बात यह थी कि जब भी प्रेमयोगी उसके पास खड़ा होता, वातावरण बदल जाता। वह पूरी तरह शांत नहीं होता था, पर संतुलित अवश्य हो जाता था।

एक देर दोपहर लड़कों ने खेतों के पास बनी पुरानी पहरेदारी मीनार पर चढ़ने का निश्चय किया—एक जर्जर संरचना, जिसके बारे में गाँव वालों ने उन्हें पहले ही चेतावनी दे रखी थी। मोहन बिना झिझक आगे बढ़ा, ऊपर की ओर दौड़ता हुआ, चलते-चलते ढीले पत्थर गिराता गया। अन्य लड़के उत्साह में चिल्लाते हुए उसके पीछे चले। प्रेमयोगी भी चढ़ने लगा, किंतु आधे रास्ते में उसके भीतर कुछ ठहर गया। सीढ़ियाँ अस्थिर लग रही थीं। रेलिंग टूटी हुई थी। उसने कल्पना की कि यह ढाँचा कैसे नाटकीय नहीं, बल्कि धीरे-धीरे, पीड़ादायक ढंग से गिर सकता है।

वह रुक गया।

उसे भय ने नहीं रोका था। उसे अनुभूति ने रोका था।

उसने ऊपर की ओर हल्के, लगभग छेड़ते हुए स्वर में कहा, “बस करो। अगर यह टूट गया तो कोई तुम्हें उठाकर नीचे नहीं ले जाएगा।” मोहन हँसा और फिर भी ऊपर चढ़ता गया। लेकिन जब एक पत्थर फिसला और नीचे खड़े एक लड़के के पास से गुज़रा, तो माहौल बदल गया। प्रेमयोगी ने चिल्लाया नहीं। वह बस मीनार से हटकर एक पेड़ के नीचे बैठ गया। धीरे-धीरे दो और लड़के उसके पास आ गए। मोहन कुछ देर और रुका, पर बिना दर्शकों के रोमांच

कम हो गया। अंततः वह भी नीचे आ गया, यह दिखाते हुए कि यह उसका अपना निर्णय था।

उस दिन प्रेमयोगी ने एक महत्वपूर्ण बात सीखी–पीछे हटना भी प्रभाव डाल सकता है। बहस करने की अपेक्षा पीछे हटकर उसने समूह की ऊर्जा को अधिक गहराई से बदल दिया।

एक और बार मोहन ने एक गुजरते साइकिल सवार को चुनौती दी–चलती साइकिल के पहिये के बेहद पास दौड़ते हुए, यह परखने के लिए कि टकराए बिना वह कितनी नज़दीक जा सकता है। साइकिल सवार गुस्से में हड़बड़ा गया और रुककर उन्हें डाँटने लगा। मोहन हँस पड़ा, जिससे स्थिति और बिगड़ गई। प्रेमयोगी ने देखा कि उस व्यक्ति की झुंझलाहट लड़कों से कम और अपने कठिन दिन से अधिक जुड़ी हुई थी। मोहन का बचाव करने के बजाय प्रेमयोगी आगे बढ़ा और बस इतना कहा, "चाचा, यह तेज़ दौड़ता है, पर धीरे सोचता है।" यह अप्रत्याशित ईमानदारी तनाव को घोल गई। साइकिल सवार ने सिर हिलाया और चला गया।

उस शाम मोहन ने उसे छेड़ा, "तू तो बूढ़ों की तरह बोलता है।"

प्रेमयोगी मुस्कराया, "किसी को तो बोलना ही पड़ता है।"

पर भीतर वह बूढ़ा महसूस नहीं कर रहा था। वह कुछ और महसूस कर रहा था–अंतराल, स्पेस।

यह अंतराल अब अधिक बार प्रकट होने लगा। प्रतिक्रिया देने से पहले उसे प्रेरणा और कर्म के बीच एक पतली खाई महसूस होने लगी। उस खाई में कुछ देख रहा था। वह ऊर्जा को दबाता नहीं था; वह उसका माप करता था। उसने देखा कि मोहन उछाल से कार्य करता है। वह स्वयं अनुभूति से कार्य करने लगा।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यहीं आंतरिक साक्षी सुदृढ़ होता है। वही रोमांच जारी रहे–पहाड़ियों में भटकना, मित्रों को छेड़ना, फल चुराना, एक-दूसरे को ललकारना–पर अब प्रेमयोगी केवल सहभागी नहीं था। वह एक साथ सहभागी और दर्शक दोनों था।

एक शाम, जब उन्होंने फिर से गायों को खेत में भटका कर एक किसान को उकसाया, तो पीछा इस बार गंभीर हो गया। किसान का क्रोध सामान्य से अधिक तीखा था। उसने मोहन का हाथ पकड़ लिया और लाठी ऊपर उठा ली। प्रेमयोगी आगे बढ़ा–न साहस के प्रदर्शन के साथ, बल्कि स्थिरता के साथ–और कहा, "गलती मेरी भी थी।" किसान ठिठक गया। यह स्वीकार उसे उलझा गया। दो लड़कों को दंड देना एक को दंड देने से भारी लगने लगा। उसने मोहन को चेतावनी देकर छोड़ दिया।

बाद में मोहन ने पूछा, "तूने दोष क्यों लिया?"

प्रेमयोगी ने कंधे उचकाए, "क्योंकि आज तेरी रफ़्तार ज़्यादा थी।"

उसने बढ़ते तनाव को भाँप लिया था। ज़िम्मेदारी लेकर उसने उष्मा को सोख लिया—त्याग से नहीं, संतुलन से।

पीछे हटने—या आवश्यक होने पर आगे बढ़ने—की यह कला धीरे-धीरे स्वाभाविक बन गई। उसने इसे आध्यात्मिक नहीं माना। उसने इसे चेतना का नाम नहीं दिया। यह बस उसके स्नायु-तंत्र के काम करने का ढंग बन गया था।

उसने समझ लिया कि अव्यवस्था भी प्रतिरूपों का अनुसरण करती है। क्रोध अनुमानित रूप से उठता है। उत्साह शिखर पर पहुँचकर गिरता है। जोखिम की भी एक लय होती है। यदि कोई ध्यान से देखे, तो लहर के टूटने से पहले उसकी चोटी को महसूस किया जा सकता है।

इसके विपरीत, मोहन बिजली की तरह चलता था—तेज, अचानक, परिणामों से बेपरवाह। प्रेमयोगी पेड़ों के बीच बहती हवा की तरह चलने लगा—उपस्थित, प्रत्युत्तरशील, बिना शोर किए दिशा बदलने वाला।

यहाँ बांसुरी का रूपक और गहराता है। बांसुरी में मापे हुए छेद होने चाहिए। यदि वे अनियमित हों, तो ध्वनि कठोर होती है। यदि वे सटीक हों, तो श्वास राग में बदल जाती है। प्रेमयोगी माप सीख रहा था—पुस्तकों से नहीं, बल्कि अमापे गए कर्मों के परिणाम देखकर।

यह विवेक उसके भविष्य को ऐसे आकार दे रहा था, जिसे वह तब देख नहीं सकता था। आगे चलकर जब शक्तिशाली भावनाएँ उठेंगी—आकर्षण, क्रोध, महत्वाकांक्षा, यहाँ तक कि आध्यात्मिक परमानंद—यही प्रेरणा और कर्म के बीच का अंतराल उसे अतियों से बचाएगा। वह तीव्रता से नहीं डरेगा, क्योंकि वह उसकी वक्रता को पहचानना सीख चुका था।

एक शाम ऐसी थी जिसने इस मोड़ को स्पष्ट रूप से चिन्हित किया। लड़के एक शर्मीले छोटे बच्चे को चिढ़ा रहे थे, उसे एक संकरे सिंचाई नाले को कूदने के लिए उकसा रहे थे। बच्चा झिझक रहा था, लज्जित था। मोहन ने उसे कायर कहकर दबाव बढ़ाया। बच्चे की आँखों में आँसू आ गए। समूह की ऊर्जा खेल से क्रूरता में बदल गई।

प्रेमयोगी ने इसे तुरंत महसूस किया।

वह स्वयं नाले को कूद गया—गर्व से नहीं, सहजता से—और लौटते समय जानबूझकर फिसलकर कीचड़ में गिर पड़ा। समूह ठहाकों से गूँज उठा। ध्यान बदल गया। छोटा बच्चा ढीला पड़ गया। छेड़छाड़ घुल गई।

बाद में मोहन ने उसे देखा और कहा, "तूने मज़ा खराब कर दिया।"

प्रेमयोगी ने उत्तर दिया, "नहीं। मैंने उसे बदल दिया।"

यही भेद उसे परिभाषित करता था।

वह अग्नि को दबाता नहीं था। वह उसे दिशा देता था।

दोस्ती में तूफ़ान अब भी तेज़ था, पर अब वह अधिक बार लय से मिलता था। प्रेमयोगी का पीछे हटना पलायन नहीं था; वह स्थान गढ़ना था। उसी स्थान से ऊर्जा का प्रवाह अलग ढंग से होने लगा।

उसके जीवन की बड़ी यात्रा में यह अध्याय शांत किंतु अनिवार्य है। यह दिखाता है कि संतुलन वयस्कता में अचानक नहीं प्रकट होता। वह बचपन के छोटे-छोटे क्षणों में अभ्यास होता है—जब कोई प्रतिक्रिया के स्थान पर विराम चुनता है, अपमान के स्थान पर हास्य, उछाल के स्थान पर अनुभूति।

मोहन वह विरोध बन गया, जिसने प्रेमयोगी को अपनी प्रगति का बोध कराया। कभी-कभी वह मोहन की नकल करता था, पर संयम के साथ और परिणामों को जानते हुए। इससे प्रेमयोगी को "करते हुए सीखने" में भी सहायता मिली, पर चेतना के साथ और बिना हानि पहुँचाए। जब कोई ऐसा करता है, जिसे वह पहले देख चुका हो, तो मस्तिष्क कर्म में पूरी तरह उलझता नहीं और चेतना के लिए कुछ स्थान बचा रहता है। इसी प्रकार वह सही ढंग, उसके परिणाम और साथ ही सहज और आनंदमय अद्वैत में स्थित रहना सीखता है, जिसे सामान्य भाषा में लापरवाही कहा जाता है। किंतु यह लापरवाही न तो आलसी थी, न तामसिक। यह पूर्ण अद्वैत-बोध के साथ सात्त्विक और स्व-विकासशील थी।

इस सात्त्विक अद्वैत को अपनाने और तामसिक निद्रा या द्वैत में फिसलने से बचने का मुख्य कारण उसका पारिवारिक आध्यात्मिक वातावरण था, जिसमें वह जन्म से पल रहा था। इसी प्रकार उसके संस्कार प्रारंभ से ही परिष्कृत होते जा रहे थे। अन्य लड़के भी उनके साथ खेलते थे और मोहन की नकल करने का प्रयास करते थे, पर उनमें वही चेतना या अद्वैत-बोध नहीं था, क्योंकि वे इतने आध्यात्मिक रूप से सशक्त पारिवारिक वातावरण में नहीं पले थे, यद्यपि संगति का कुछ प्रभाव अवश्य था। इसलिए वे मोहन की शैली अपनाते समय हिचकते थे और कभी-कभी क्षणिक रूप से उससे घृणा भी कर बैठते थे। किंतु प्रेमयोगी,

अद्वैत के प्रभाव से, द्वैत की शरारत को सदैव अद्वैत की लीला में बदल देता था–एक अनुभवी रसोइए की तरह–और इसलिए उसके भीतर कभी द्वेष नहीं पनपा। उसके लिए सब समान था, जब तक वह प्रेम और मानवीयता की सीमा में रहता था।

उसके लिए मानवीय शरारत और भी प्रिय थी, क्योंकि वही द्वैत के रूप में वह सर्वोत्तम कच्चा माल थी, जिसे पकाकर आनंदमय अद्वैत बनाया जा सकता था। इसलिए वह मोहन से किसी भी व्यक्ति या वस्तु से अधिक प्रेम करता था। यह एक अद्भुत मनोविज्ञान था, जिसके अनुसार ऋषियों ने कहा है कि बुरे लोगों या शत्रुओं से घृणा नहीं करनी चाहिए, बल्कि उनसे प्रेम करना चाहिए, क्योंकि वे वास्तव में हमारे सर्वोत्तम मित्र होते हैं।

वास्तव में 'नमक' रूपी तत्व केवल 'द्वैत' रूपी सब्ज़ी में ही डाला जा सकता है, यदि वह सब्ज़ी पहले से मौजूद हो। यदि सब्ज़ी ही न हो, तो मसालों का क्या उपयोग? अन्य लड़के भी मोहन से प्रेम करते थे, पर उतनी गहराई से नहीं, क्योंकि वे उतने कुशल रसोइए नहीं थे। प्रेमयोगी पहले मोहन की शरारतों को अद्वैत के स्वादिष्ट व्यंजन में बदलता, और तभी उनके बारे में दूसरों से बात करता, जिससे सब आनंदित, प्रसन्न और मुस्कराते रहते। संभवतः यही कारण था कि आगे चलकर प्रेमयोगी को स्वयं भोजन पकाने का भी विशेष शौक हो गया।

जीवन के प्रारंभिक चरण में यह "पकाना" अपने आप नहीं हुआ। यह मोहन को नियंत्रित करने, उसे संतुलित करने, उसकी शरारतें सीमा पार करने पर शिकायत करने, और उसमें अति या अमानवीय होने का भय उत्पन्न करने के माध्यम से हुआ। संतुलन की यही आदत प्रेमयोगी ने आगे अपने जीवन–विश्वविद्यालय और कुछ हद तक पेशेवर जीवन–में भी बनाए रखी। वह शरारत से कभी परेशान नहीं हुआ, यदि वह मित्रतापूर्ण, अद्वैत में निहित, हँसी से भरी और प्रेम व मानवीयता से युक्त होती थी। ऐसे कृत्यों की उसने कभी शिकायत नहीं की। उसके लिए वे काँटों में मिले फूलों जैसे थे, जिनसे सदा मधु निकाला जा सकता था।

संयम की यही आदत उसके विद्यालयीन किशोर जीवन में भी उसके काम आई, जब अत्यंत सूक्ष्म शरारतें स्वयं उससे प्रियाओं की ओर हुईं, और प्रेम शिकायतों में नहीं, बल्कि समाधि में बदल गया–और वह प्रेमयोगी वज्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जो बालक कभी हँसी के साथ अंधाधुंध दौड़ता था, वह अब घटनाओं के नीचे छिपी अदृश्य संरचना को महसूस करने लगा था। वह खेलपूर्ण रहा। वह संलग्न रहा। किंतु अब वह पूरी तरह गति के हवाले नहीं था। खोखली सरकंडा संरचना पा रही थी।

और संरचना के बिना कोई भी संगीत टिक नहीं सकता।

अध्याय 3
जंगल की दावतें और शक्ति का स्वाद

यह अध्याय उस क्षण को चिन्हित करता है जब साधारण शरारत धीरे-धीरे अपनी गहरी प्रकृति को ऊर्जा के रूप में प्रकट करने लगती है। अब तक खेल केवल गति, हँसी और बच निकलने का नाम था। यहाँ, बिना प्रेमयोगी के इसे कोई नाम दिए, खेल अपनी शक्ति दिखाने लगता है। जंगल की दावतें, चुराए गए फल, भुना हुआ मक्का और गुप्त जमावड़े ऐसे प्रयोगशालाएँ बन जाते हैं, जहाँ स्वतंत्रता, आकर्षण, प्रभाव और परिणाम चुपचाप स्वयं को प्रकट करते हैं। यह अध्याय प्रेमयोगी की शक्ति–शक्ति (Shakti)–की पहली जीवंत समझ को दर्शाता है, जो किसी शिक्षा या शास्त्र से नहीं, बल्कि आनंद, अति, भूल और अंतर्दृष्टि से उत्पन्न होती है, और सब कुछ हँसी में लिपटा रहता है।

जंगल ही उनका वास्तविक भोजनालय था। जब भी वे छोड़े हुए बागानों से केले, पहाड़ी खेतों से मक्का, या कर्मकाण्ड की भेंट से गुड़ और नारियल चुराते, दावत कभी गाँव में नहीं होती थी। वह गहरे जंगल में होती थी, जहाँ धुआँ बिना देखे उठ सकता था और हँसी बिना शिकायत गूँज सकती थी। आग सावधानी से जलाई जाती, मक्का धीरे-धीरे भुना जाता, और भोजन इस गिनती के बिना बाँटा जाता कि कौन कितना लाया। कुछ भी संग्रहित नहीं होता था। कुछ भी बचाया नहीं जाता था। सब कुछ उसी क्षण में भोग लिया जाता था।

शुरुआत में ये कृत्य भूख से मुक्ति जैसे लगते थे। धीरे-धीरे प्रेमयोगी ने समझा कि वे अपराध-बोध से मुक्ति थे। कोई चोरी इसलिए नहीं करता था कि घर में भोजन नहीं था। वे इसलिए चुराते थे क्योंकि वह कर्म स्वयं भय को घोल देता था। अनुमति के बिना लेना, अनुष्ठान के बिना खाना, और रोक-टोक के बिना हँसना–ये सब अदृश्य नियमों को काट देते थे, जो मन को चुपचाप बाँधते हैं। जंगल में कोई यह नहीं पूछता था कि कौन क्या पाने का अधिकारी है। धरती देती थी। आग रूपांतरित करती थी। हाथ बाँटते थे।

प्रेमयोगी ने देखा कि हर ऐसी दावत के बाद उसके भीतर कुछ हल्का हो जाता था। न उत्तेजित, न बेचैन–बस हल्का। जैसे हर बार स्वामित्व के बिना आनंद लेने से भीतर की कोई गाँठ ढीली हो जाती हो। उस समय उसके पास इसके लिए भाषा नहीं थी, पर आगे चलकर वह इसे सीमा से मुक्ति के रूप में पहचानेगा।

धीरे-धीरे उसने एक और बात भी देखनी शुरू की। जब वे साथ चलते, तो लड़के स्वाभाविक रूप से उसके आसपास इकट्ठा हो जाते थे। इसलिए नहीं कि वह आदेश देता था, बल्कि इसलिए कि वह प्रतिस्पर्धा नहीं करता था। वह मक्के का सबसे बड़ा टुकड़ा नहीं झपटता था। वह शेखी नहीं बघारता था। वह जल्दी नहीं करता था। उसकी सहजता दूसरों को सहज कर देती थी। यद्यपि दूसरों की तरह वह भी बड़ा टुकड़ा पाने की इच्छा रखता था और कभी-कभी

ऐसा करने का प्रयास भी करता था, पर शांति से–बिना आसक्ति के, बिना धोखा दिए या किसी को चोट पहुँचाए–केवल खेल के रूप में। यदि उसे वह न मिला, तो वह खिन्न नहीं होता था, उसे खेल का परिणाम मान लेता था।

रास्ते से गुजरती लड़कियाँ कभी-कभी अपने कदम थोड़े धीमे कर लेतीं–इच्छा से नहीं, बल्कि शांत जिज्ञासा से। दूर से देखते बुज़ुर्ग भी उसे देखकर नरम पड़ जाते थे। यहाँ तक कि जब शरारत सामने आ जाती, दोष शायद ही सीधे प्रेमयोगी पर टिकता था। वह अपनी सार्वजनिक छवि को लेकर सजग था, एक आदत जो आंशिक रूप से उसके माता-पिता से आई थी, जो सामाजिक सम्मान को लगभग हर चीज़ से ऊपर रखते थे। उस घर में प्रतिष्ठा सजावट नहीं थी; वह सुरक्षा थी।

एक बार मोहन ने बुज़ुर्गों से उसी आयु के लड़कों के एक समूह की शिकायत की, जिसमें प्रेमयोगी भी एक किनारे चलने वाले के रूप में मौजूद था, कि वे कुछ लड़कियों को छेड़ रहे थे। प्रेमयोगी इससे विचलित हुआ। इसलिए नहीं कि शिकायत पूरी तरह झूठी थी, बल्कि इसलिए कि उसने उसके चारों ओर बनी सम्मान की नाज़ुक ढाल को खतरे में डाल दिया था। उस छवि की रक्षा के लिए उसने मोहन पर ही घटना भड़काने और समूह के साथ होने का आरोप लगा दिया–जो सत्य नहीं था। यह आरोप जानबूझकर लगाया गया था, द्वेष से नहीं, बल्कि मोहन को बोलने और उस मौन संतुलन को बिगाड़ने का पाठ पढ़ाने के लिए।

मोहन ने तीव्र क्रोध से प्रतिक्रिया की। उसकी आँखें फैल गईं, साँस गरम और भारी हो गई, और उसका शरीर ऐसे काँपने लगा जैसे किसी क्रोधित बैल को बलपूर्वक रोका गया हो। दूसरी ओर प्रेमयोगी ने समाज द्वारा अपने ऊपर से भार हटते हुए एक अजीब हल्कापन महसूस किया। राहत आई, पर उसके साथ एक अनकहा असहजपन भी था।

अधिकांश दोष समूह के एक अन्य लड़के पर गया, जिसके परिवार की सामाजिक स्थिति पहले से ही कमज़ोर थी। उनका पिछला व्यवहार और कमजोर आर्थिक स्थिति उसे आसान निशाना बनाती थी। बुज़ुर्गों ने यह भाँप लिया कि मोहन मुख्य अपराधी नहीं था–उसका आरोप लगाए जाने पर खुला क्रोध अपराध-बोध से अधिक प्रतिरोध दर्शाता था–फिर भी उन्होंने उसे पूरी तरह निर्दोष नहीं माना। उनकी दृष्टि में उसकी आदतन शरारत का अर्थ था कि उसने किसी न किसी रूप में दूसरों को भटकाया ही होगा।

ऐसी ही एक घटना पहले प्राथमिक विद्यालय के समय भी हुई थी, जब एक लड़की बचकानी हरकतों की अनजानी शिकार बनी। कई लड़के अपरिपक्व जिज्ञासा में बह गए थे, बुज़ुर्गों की बातचीत सुनकर और एक-दूसरे के व्यवहार से प्रभावित होकर, बिना यह समझे कि उनके कृत्यों का भार क्या है। उस समय भी प्रेमयोगी को उसके माता-पिता की प्रतिष्ठा और समुदाय में उनके प्रति विश्वास के कारण गंभीर परिणामों से बचा लिया गया। समूह के एक

अन्य लड़के, रमेश, को मुख्य दोषी ठहराया गया और दंड का भार उसी पर पड़ा। उसे अपने परिवार, विद्यालय के अध्यापक और लड़की के पिता—तीनों ओर से—डाँट और मार सहनी पड़ी। यह प्रेमयोगी को आरंभ में उलझन में डालता था। वह भी वही कर रहा था—कभी-कभी अधिक चतुराई से। फिर प्रतिक्रिया अलग क्यों थी? क्या यह उसकी अद्वैत चेतना का प्रभाव था, जो धोने की मशीन की तरह बुरे को अच्छे में बदल देती है? समाज में तो बुरा बुरा ही माना जाता है और निंदित होता है; फिर भी उसके मामले में यह निंदा इतनी कठोर या घृणापूर्ण क्यों नहीं थी? इसका पूरा उत्तर वह आगे चलकर पाएगा। उस समय वह अनजाने में प्रभाव का स्वाद चख रहा था।

उसके लिए कुछ भी पूर्णतः निषिद्ध नहीं था, क्योंकि अद्वैत की एक भावना पारिवारिक गुणों और पूर्वजन्मों के संस्कारों से पहले ही आ चुकी थी। फिर भी सामाजिक सीमाएँ बनाए रखनी थीं। इसलिए उसने अच्छे और बुरे की अवधारणा कठोर उपदेशों से नहीं, बल्कि करते हुए सीखने से सीखी—पर स्वयं कभी भी हानिकारक कृत्यों में पूरी तरह या गहराई से लिप्त हुए बिना। अधिकांशतः उसने इन्हें संकेतात्मक रूप में अनुभव किया, गाँव के लड़कों की संगति में, विशेषकर मोहन के माध्यम से।

स्वयं मोहन अपने कर्मों में हल्का था—हास्यपूर्ण, खेलपूर्ण और शरारती, पर कभी भी क्रूर या निर्दयी नहीं। उसका करना हल्का था, भारी नहीं। इससे एक दुर्लभ सीखने का वातावरण बना, जहाँ कर्म संकेत देते थे, क्षति नहीं पहुँचाते थे। ऐसे वातावरण में समझ भय या नैतिक बोझ के बिना स्वाभाविक रूप से विकसित हुई।

यह सीखने का एक आदर्श मॉडल बन गया—कर्म को छूना बिना हानि पहुँचाए, अनुभव का स्वाद लेना बिना अति में गिरे। शुद्ध सिद्धांत या दर्शन की तुलना में यह सीखने का तरीका कहीं अधिक प्रभावी था। इससे अंतर्दृष्टि केवल विचार से नहीं, बल्कि शरीर और स्नायु-तंत्र से उत्पन्न हुई।

अनजाने में प्रेमयोगी उच्चतम गुणवत्ता की अनुभवजन्य संरचना प्राप्त कर रहा था। जीवन स्वयं उसे शिक्षित कर रहा था—कोमलता से, खेल के माध्यम से और सटीक रूप से—बहुत पहले कि वह इसे आध्यात्मिक प्रशिक्षण के रूप में पहचाने। अनुभवों की यह व्यापकता आगे चलकर उसे एक सफल अनुभवात्मक लेखक बनने में भी सहायक बनी।

एक घटना उसे विशेष रूप से स्मरण रही। एक बार मोहन से प्रेरित होकर वे दोनों एक उथले सार्वजनिक जल-आपूर्ति टैंक में नंगे कूद पड़े, स्नान करने और तैरने के लिए। इसमें न कोई योजना थी, न विद्रोह—केवल बिना बाधा, बिना वस्त्र, बिना विचार के जल को छूने का निर्दोष रोमांच। उन क्षणों में शरीर हल्का, अनधिकारित और मुक्त महसूस हुआ।

अचानक जल-विभाग का एक कर्मचारी हाथ में मोटी लाठी लिए आ गया। पैरों की आहट सुनते ही मोहन चौंककर पक्षी की तरह भाग निकला। प्रेमयोगी समय पर दीवार नहीं चढ़ सका और पकड़ा गया। वह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा—केवल भय से नहीं, बल्कि देखे जाने, उघड़े होने और असहाय होने के आघात से। कर्मचारी ने कठोरता नहीं दिखाई। उसने प्रेमयोगी को टैंक से बाहर निकाला, उसके कपड़े दिए और सख़्त किंतु सौम्य स्वर में चेतावनी दी कि ऐसा दोबारा न करे। न मार पड़ी, न अपमान। केवल दृढ़ करुणा। यह घटना शीघ्र ही गाँव में एक हल्की-फुल्की कहानी बन गई। लोग हँसकर कहते, "बच्चे तो बच्चे होते हैं। जब किसी को हानि न हो, तो मज़े में कोई बुराई नहीं।"

पर प्रेमयोगी के भीतर कुछ गहरा घट चुका था। उस क्षण में—उघड़ापन, रोना और समर्पण—एक सूक्ष्म आंतरिक द्वार खुला। लज्जा कठोर होने के बजाय घुल गई। भय बिना कोई अवशेष छोड़े गुजर गया। शरीर देखा गया, सुधारा गया और बिना निंदा के छोड़ दिया गया। कुछ पुराना ढीला पड़ गया। कुछ दबे हुए संस्कार, विरासत में मिली संकोचशीलताएँ और अचेतन रोकें चुपचाप नरम हो गईं।

बहुत बाद में प्रेमयोगी इसे एक प्रारंभिक तांत्रिक संकेत के रूप में पहचानेगा—अभ्यास में नहीं, भाव में। इस अनुभव में समर्पण, विश्वास, कठोर आत्म-छवि का ढहना और बिना हिंसा के अधिकार द्वारा स्वीकृति थी। इसने उसे सिखाया कि खुलापन हमेशा दंडित नहीं होता, कि भेद्यता सुरक्षा के साथ सहअस्तित्व रख सकती है, और कि निर्दोष स्वतंत्रता अनिवार्य रूप से हानि को आमंत्रित नहीं करती। जीवन के अनेक चरणों में समर्पण के ऐसे अनुभवों ने आगे चलकर उसे अहं को घोलने और योग में सफल होने में सहायता दी।

उस समय वह केवल दूसरों के साथ हँसा। पर भीतर शरीर ने कुछ ऐसा सीख लिया था, जिसे मन ने अभी नाम नहीं दिया था। लज्जा की एक छोटी गाँठ खुल चुकी थी। स्वाभाविक होने की एक मौन अनुमति मिल चुकी थी। वह पाठ दबा रहा, प्रतीक्षा करता हुआ।

एक दिन वह स्मृति नहीं, समझ बनकर पुनः उभरेगा।

प्रभाव बल नहीं होता। वह गुरुत्व होता है। वह धकेलता नहीं, खींचता है। उसने देखा कि मोहन प्रतिक्रिया पैदा करता था, जबकि वह अनुसरण उत्पन्न करता था। मोहन की ऊर्जा बाहर की ओर फूटती थी; उसकी ऊर्जा भीतर की ओर खींचती थी। यही दोनों के बीच मुख्य अंतर था। मोहन बाहरी विस्तार से प्रभाव डालता था, और प्रेमयोगी आंतरिक विस्तार से। साथ मिलकर वे पूर्ण कृष्ण को जीवित करते थे। दोनों अपने-अपने ढंग से कृष्ण-जीवन का पूर्ण आनंद लेते थे, पर यह ज्ञात नहीं कि मोहन उसे जागरण तक कितना ले जा सका, जैसा प्रेमयोगी को ले गया। अलग-अलग दोनों अधूरे थे। आंतरिक वृद्धि के बिना बाहरी वृद्धि अधूरी

है, और बाहरी वृद्धि के बिना आंतरिक वृद्धि भी अधूरी है। बाहरी वृद्धि द्वैत प्रदान करती है, और आंतरिक वृद्धि उसमें 'शून्य' जोड़कर उसे अद्वैत में रूपांतरित कर देती है।

आगे चलकर, विद्यालय के किशोर जीवन में, यह वृद्धि दो क्वांटम तरंगों के अनुनाद और परस्पर प्रवर्धन की तरह और तीव्र होगी, जब स्वीटी मोहन का स्थान लेगी। वहाँ कृष्ण बाल-लीला से प्रेम-लीला की अवस्था में पहुँचेगा। कृष्ण उसके जीवन से कभी खोएगा नहीं; वह केवल आयु और परिस्थिति के अनुसार उन्नत होता जाएगा। वही कृष्ण जीवन के विभिन्न चरणों में शक्ति, शिव या राम कहलाएगा। आधार में कोई अंतर नहीं है—केवल शब्दावली की ऊपरी मंज़िल बदलती है। भवन चाहे जितना ऊँचा हो, टिकता हमेशा अपने आधार पर ही है।

यह आकर्षण की सबसे प्रारंभिक धारा थी—न लैंगिक, न भावनात्मक, बल्कि चुंबकीय। उपस्थिति स्वयं सक्रिय हो रही थी।

कैक्टस-दूध की घटना ने इस आनंदमय प्रवाह में पहली स्पष्ट दरार डाली। तब तक शरारतें प्रायः हँसी पर ही समाप्त होती थीं। उस दिन वे घबराहट पर समाप्त हुईं। मोहन ने गुप्त ज्ञान के विचार से उत्साहित होकर लड़कों के एक समूह को यह विश्वास दिलाया कि कैक्टस पौधे का दूधिया रस शक्ति और वृद्धि की एक प्रभावी औषधि है। लड़कों ने उस पर भरोसा किया। प्रयोग हँसी और उत्सुकता के साथ किया गया। कुछ ही मिनटों में सूजन शुरू हो गई। उत्साह घबराहट में बदल गया। रोना शुरू हुआ। माता-पिता आ पहुँचे। जंगल में अब हँसी नहीं, भय गूँज रहा था। इस घटना में मोहन ने प्रेमयोगी को अपने दल में शामिल नहीं किया था, शायद बुज़ुर्गों से डाँट पड़ने के डर से, क्योंकि प्रेमयोगी की शिकायतें आसानी से मान ली जाती थीं। फिर भी प्रेमयोगी ने दूसरों से यह सुनकर उनकी मूर्खता का आनंद लिया और स्वयं को इससे बच जाने पर भाग्यशाली और श्रेष्ठ महसूस किया। माताएँ बच्चों को मोहन से कैसे बचाएँ, इस पर चिंतित थीं, पर फिर भी उसकी मेज़बान परिवार और उसके पूर्व व्यवहार के कारण आश्वस्त थीं कि मोहन केवल शरारती है, हिंसक या क्रूर नहीं—सिवाय आत्मरक्षा के।

इस बार प्रेमयोगी ने इसे मनोरंजन की तरह नहीं देखा, बल्कि सजगता से। यह पहला क्षण था जब उसने शक्ति के दुरुपयोग को देखा। वही ऊर्जा जो आनंद लाती थी, अब दुःख पैदा कर रही थी। वही आत्मविश्वास जो विश्वास जगाता था, अब हानि पहुँचा रहा था। भूल नीयत में नहीं थी। भूल परिणाम की अज्ञानता में थी।

उस शाम, जब कोलाहल शांत हो गया और उस घटना का दंड पीड़ा के रूप में मिल चुका था, प्रेमयोगी अकेला बैठा। उसने क्रम को मन में दोहराया। मोहन के हृदय में कोई क्रूरता नहीं थी। लड़कों की जिज्ञासा में कोई दुर्भावना नहीं थी। फिर भी क्षति हुई थी। एक शांत बोध उभरा—चेतना के बिना शक्ति खेलपूर्ण नहीं रहती। वह अप्रत्याशित हो जाती है।

इस समझ ने उसे शक्ति से डराया नहीं। उसने उसमें सम्मान भर दिया। उस दिन से जंगल की दावतें चलती रहीं, पर प्रेमयोगी का ध्यान तीक्ष्ण हो गया। वह घटनाओं से पहले और बाद में ऊर्जा के प्रवाह को देखने लगा। वह देखता कि कौन हँसता है और कौन मौन हो जाता है। उसने विस्तार और हानि के बीच की अदृश्य सीमा को महसूस करना शुरू किया। संभव है कि उसमें पूर्वजन्मों की साधना का प्रभाव था, जो उसके शरीर को उसके अनुकूल ट्यून कर रहा था, जैसे रेडियो तरंगें किसी रेडियो सेट को उसकी प्रकृति के स्वर पर ट्यून कर देती हैं।

जब शरारत सबको हल्का कर दे, तो वह खेल है।
जब शरारत किसी एक को भी सिकोड़ दे, तो वह असंतुलन है।

यह भेद उसे सिखाया नहीं गया। वह स्वाभाविक रूप से उभरा, जैसे जीभ पर स्वाद विकसित होता है। जंगल स्वयं यह पाठ पढ़ाता प्रतीत होता था। छोटी आग भोजन पकाती और हाथों को गर्म करती है। वही आग, यदि अनदेखी छोड़ दी जाए, तो सूखी घास को भस्म कर देती है। आग गलत नहीं है। उपेक्षा गलत है।

प्रेमयोगी ने अपने प्रभाव से भी इसी तरह संबंध बनाना शुरू किया। उसने उसे दबाया नहीं। उसने उसे देखा। जब लड़के शरारत में उसका अनुसरण करते, वह अपने कदम थोड़े धीमे कर लेता। जब हँसी बहुत तेज़ उठती, वह उसे हास्य से नरम कर देता। जब उत्साह क्रूरता की ओर झुकता, वह उसे स्वयं की ओर मोड़ देता या पूरी तरह दिशा बदल देता।

यह नैतिकता नहीं थी। यह संतुलन था।

वह शक्ति को किसी नाटकीय या रहस्यमय तत्व के रूप में नहीं, बल्कि रोज़मर्रा की शक्ति के रूप में समझने लगा—वाणी, आत्मविश्वास, उपस्थिति और साहस। अचेतन रूप से प्रयुक्त होने पर वह अव्यवस्था में फूल जाती है। चेतना के साथ प्रयुक्त होने पर वह आनंद को पोषित करती है।

मोहन ने भी इस परिवर्तन को महसूस किया, यद्यपि वह उसे नाम नहीं दे सका। वह अब भी तूफ़ान खड़े करता था, पर अब अक्सर कर्म के बीच प्रेमयोगी की ओर देख लेता, जैसे किसी अदृश्य संकेत की जाँच कर रहा हो। कभी वह उसे अनदेखा करता। कभी अपने कदम समायोजित करता।

यही लय की शुरुआत थी।

आगे चलकर प्रेमयोगी समझेगा कि शक्ति सदा बुद्धि से पहले आती है। ऊर्जा पहले आती है। चेतना या तो उसका अनुसरण करती है—या कष्ट भोगती है। यहाँ, जंगल की इन दावतों और

बालसुलभ भूलों में, उसने इस सत्य को दर्शन के रूप में नहीं, स्मृति के रूप में सीखा। जले हुए मक्के की गंध, चुराए गए गुड़ का स्वाद, घबराए हुए रोने की ध्वनि, हँसी के बाद का मौन, अनपेक्षित के प्रति पूर्ण समर्पण–ये सब उसके स्नायु-तंत्र को आकार देने वाली छापें बन गए।

इसीलिए यह अध्याय अनिवार्य है। शक्ति के इस जीवंत स्वाद के बिना प्रेमयोगी का बाद का संतुलन नाज़ुक होता। वह ऊर्जा पर भरोसा नहीं करता। न उसके खतरे को जानता, न उसके उपहार को। इसके बजाय उसने जल्दी ही सीख लिया कि शक्ति तटस्थ है। चेतना उसका भविष्य तय करती है।

जब तक बचपन किशोरावस्था में घुलने लगा, प्रेमयोगी के भीतर एक सूक्ष्म समझ बस चुकी थी–आनंद को अनुशासन से भय नहीं है, और अनुशासन आनंद को नहीं मारता। दोनों को नष्ट करने वाली चीज़ अज्ञान है। जंगल की दावतें धीरे-धीरे कम होती गईं, पर उनके पाठ स्थायी रहे। उन्होंने उसे अपराध-बोध के बिना आनंद लेना, प्रभुत्व के बिना नेतृत्व करना, और शक्ति को उसके नशे में डूबे बिना धारण करना सिखाया।

सबसे महत्त्वपूर्ण यह कि उन्होंने उसे सिखाया कि शक्ति की पूजा या भय नहीं करना चाहिए –उसे समझना चाहिए। और यह समझ उसे कठोर नहीं बनाती। वह उसे और हल्का बनाती है।

खेल अपना गहरा रूप दिखाने लगा था।
और चेतना शक्ति का स्वाद चखने लगी थी।

अध्याय 4

पवित्र सरोवर और भय का सर्प

यह अध्याय उस क्षण को चिन्हित करता है जब खेल पहली बार मृत्यु के स्पर्श में आता है और परिवर्तित होकर लौटता है। अब तक शरारत हमेशा हँसी, डाँट या बच निकलने में घुल जाती थी। यहाँ कुछ भिन्न प्रवेश करता है–भय की स्थिर, ठंडी उपस्थिति। पवित्र सरोवर इस कथा का भावनात्मक केंद्र बन जाता है, किसी मिथक के अभिनय के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवंत मनोवैज्ञानिक अनुभव के रूप में। इस घटना के माध्यम से प्रेमयोगी भय से टकराता है, पर उसमें ढहता नहीं। पहली बार उसके भीतर एक शांत साक्षी जागता है। यही योगी का सबसे प्रारंभिक बीज है–जो अनुशासन से नहीं, बल्कि खेल के खतरे से मिलते हुए भी सचेत बने रहने से जन्म लेता है।

वह सरोवर पहाड़ियों के बीच छिपा हुआ था, सामान्य चराई के रास्तों से थोड़ा हटकर। दोपहर में भी उसका पानी गहरा दिखाई देता था, आकाश को तो प्रतिबिंबित करता था, पर अपनी गहराई नहीं दिखाता था। बच्चे वहाँ अक्सर नहाते थे, पर कभी बिना सावधानी के नहीं। बुज़ुर्ग उसके बारे में श्रद्धा और चेतावनी दोनों के साथ बोलते थे। सरोवर के एक कोने में, एक पुराने पत्थर की स्लैब के नीचे, एक गहरा छेद था। लोग कहते थे कि वहाँ एक नागदेवता रहता है। किसी ने उसे स्पष्ट रूप से नहीं देखा था, पर विश्वास को प्रमाण की आवश्यकता नहीं थी। भय स्वयं प्रमाण बन गया था। कभी-कभी एक छोटे साँप का सिर दिखाई दे जाता था, जो छोटे मछलियों और मेंढकों को खाने के लिए पानी में फिसल जाता था। वह कोई पौराणिक नाग नहीं था, पर मन को प्रतीकों की आवश्यकता होती है–शायद उसे किसी गहरी, अदृश्य शक्ति का सेवक मान लिया गया था, जो दृश्य और अदृश्य के बीच विचरण करती है।

मोहन के लिए ऐसी चेतावनियाँ आमंत्रण थीं।

एक दोपहर, पहाड़ियों में लंबी भटकन के बाद लड़के सरोवर पर पहुँचे। सूरज अभी ऊँचा था, पानी आकर्षक लग रहा था। बिना सोचे कपड़े उतार दिए गए, शरीर ठंडे पानी में फिसल गए, और हँसी चट्टानों से टकराकर गूँजने लगी। शुरुआत में सब कुछ साधारण खेल था–छपाछप, गोते लगाना, और एक-दूसरे को दूर तक तैरने की चुनौती देना।

फिर मोहन एक नीचे झुकी हुई डाल पर चढ़ गया, जो सरोवर के सबसे गहरे हिस्से के ऊपर फैली थी।

“मैं यहाँ से कूदूँगा,” उसने चमकती आँखों के साथ घोषणा की।

किसी ने चिल्लाकर कहा, “वहाँ मत जाओ।”

किसी ने फुसफुसाया, “वहीं सर्प रहता है।”

मोहन हँसा।

बिना रुके उसने छलाँग लगा दी।

छपाक की आवाज़ तेज़ थी। लहरें फैल गईं। सब उसकी गर्दन के उभरने की प्रतीक्षा करने लगे।

वह नहीं उभरी।

सेकंड बीत गए। हँसी थम गई। किसी ने उसका नाम पुकारा। किसी ने और ज़ोर से चिल्लाया। पानी शांत रहा।

घबराहट धुएँ की तरह उठी।

“डूब गया!”

“नागदेवता उसे ले गया!”

“किसी को बुलाओ!”

लड़के चिल्लाने लगे, कोई रोने लगा, कोई जड़ हो गया। भय तेजी से फैलने लगा, स्वयं को पोषित करता हुआ।

प्रेमयोगी स्थिर खड़ा रहा।

उसके भीतर कुछ अजीब घटा। चारों ओर आवाज़ें उठ रही थीं, दिल तेज़ धड़क रहे थे, पर उसके भीतर एक गहरी शांति खुल गई। शरीर सजग था, पर मन बिखरा नहीं। वह पानी को देख रहा था—न बेचैनी से, न घबराहट से, बल्कि सावधान ध्यान से।

पहली बार खेल मृत्यु के क्षेत्र में प्रवेश कर गया था, और घबराहट के स्थान पर चेतना प्रकट हो गई थी।

फिर अचानक पानी फटा।

मोहन ऊपर आया–हांफता हुआ, बाल माथे से चिपके, आँखें चमकती हुई, ऐसे मुस्कराता हुआ जैसे किसी गुप्त लोक से लौट आया हो। लड़के राहत से चीख पड़े। कोई हिस्टीरिकल हँसी हँसा, कोई खुलकर रो पड़ा। भय विस्मय में बदल गया।

पर प्रेमयोगी अपनी पुरानी अवस्था में वापस नहीं लौटा।

राहत आई, पर भीतर कुछ खिसक चुका था।

उसने समझा कि भय उसके भीतर से होकर गुज़रा था, पर उसे अपना नहीं बना पाया था। घबराहट ने उसकी इंद्रियों को छुआ था, पर उसके केंद्र को नहीं हथिया पाई थी। एक साक्षी प्रकट हो गया था–न ठंडा, न अलग-थलग, बल्कि स्थिर।

बाद में, जब बुज़ुर्गों की डाँट पड़ी और मार भी लगी, तो यह घटना एक और गाँव की कहानी बन गई। लोग कहते थे कि मोहन पागल है। सर्प की अफ़वाह और गहरी हो गई। चेतावनियाँ फिर से दोहराई गईं। जीवन आगे बढ़ गया।

पर प्रेमयोगी के भीतर वह सरोवर बना रहा।

पानी उसके लिए एक नया अर्थ लेने लगा–गहराई के रूप में, अवचेतन स्थान के रूप में, ऐसी जगह के रूप में जो खतरे और मौन दोनों को धारण कर सकती है। सर्प का अर्थ भी बदल गया। वह केवल गाँव का विश्वास नहीं रहा। वह एक प्रतीक बन गया–छिपी हुई ऊर्जा का, सुप्त शक्ति का, चेतना की गहराई में कुंडली मारे बैठे भय का।

उस समय वह इन शब्दों में नहीं सोचता था। वह उन्हें महसूस करता था।

उसने जाना कि भय हमेशा शत्रु नहीं होता। कभी-कभी वह द्वार होता है।

यदि उससे अंधे होकर भागो, तो वह पीछा करता है।
यदि उसमें जड़ हो जाओ, तो वह निगल लेता है।
पर यदि स्थिर होकर उसे देखो, तो वह कुछ और गहरा दिखा देता है।

यह पहली बार था जब प्रेमयोगी ने अराजकता में स्थिरता का अनुभव किया। इसलिए नहीं कि उसने शांत रहने का प्रयास किया, बल्कि इसलिए कि वर्षों के खेल ने पहले ही उसे प्रशिक्षित कर दिया था। बच निकलना, डाँट, निकट-खतरे–उसका स्नायु-तंत्र लचीला हो चुका था। वह आसानी से जकड़ता नहीं था।

मोहन ने भय को अलग तरह से जिया। उसके लिए भय जीवित बच जाने के बाद आने वाला रोमांच था। वह हँसता हुआ, विजयी, अप्रभावित बाहर आया। इस घटना ने उसकी कथा को और मज़बूत किया।

प्रेमयोगी के लिए, इसने अंतर्दृष्टि दी।

उस शाम, जब लड़के बिखर गए और पहाड़ियों में शांति लौट आई, प्रेमयोगी अकेला बैठा। उसने दृश्य को बार-बार मन में दोहराया। मोहन की छलाँग में कोई क्रूरता नहीं थी। दूसरों को डराने का कोई इरादा नहीं था। फिर भी भय तीव्रता से उभरा था। उसने स्पष्ट देखा कि भय को इरादे की आवश्यकता नहीं होती। वह अनिश्चितता से जन्म लेता है।

और अनिश्चितता तब जन्म लेती है, जब गहराई ज्ञात न हो।

सरोवर में गहराई थी। मोहन ने बिना चिंता उसमें छलाँग लगा दी। दूसरों ने उसमें राक्षसों की कल्पना कर ली। प्रेमयोगी ने केवल देखा।

यह अंतर उसके साथ रह गया।

आगे के वर्षों में, जब भीतर की ऊर्जाएँ अचानक उठेंगी, जब आनंद गहरा होगा और उसके साथ भय भी आएगा, यह स्मृति लौटेगी—कहानी के रूप में नहीं, प्रशिक्षण के रूप में। उसे याद रहेगा कि ज़मीन खिसकने पर भी चेतना बनी रह सकती है।

यह अवचेतन से पहली वास्तविक भेंट थी।

सरोवर कोई मिथक नहीं था।
सर्प कोई कल्पना नहीं था।
वे आंतरिक वास्तविकताएँ थीं, जो ग्रामीण भाषा में व्यक्त हुई थीं।

बाद में समझ की दृष्टि से देखने पर यह सरोवर केवल एक गाँव का जल-स्रोत नहीं रहा। वह मूलाधार बन गया—अस्तित्व का वह गहरा आधार, जहाँ प्रवृत्ति, भय और कच्ची ऊर्जा निवास करती है। उसमें नंगे कूदना ऐसा था जैसे कोई योगी मूलाधार में प्रवेश करे—एक गहरी गुफा या एकांत स्थान में बैठ जाए, सब सांसारिक आवरण छोड़कर। गाँव वालों द्वारा कहा गया सर्प वास्तव में कल्पना नहीं था; वह कुंडलिनी थी, जिसे स्थानीय भाषा और भय के माध्यम से देखा गया था। मोहन की छलाँग केवल उच्छृंखल खेल नहीं थी; प्रतीकात्मक रूप से वह एक तांत्रिक योगी का मूलाधार की अज्ञात गहराइयों में कूदना था, जहाँ बिना लौटने की गारंटी के सब कुछ दाँव पर लगता है।

अन्य बच्चों का आतंक–उनकी चीखें, उनका यह विश्वास कि मोहन सदा के लिए खो गया–साधारण लोगों के उस भय को दर्शाता है, जब वे किसी परिचित को अनदेखे आंतरिक क्षेत्र में उतरते देखते हैं। उन्हें लगता है कि वह लौटेगा नहीं, स्वयं को खो देगा, सामान्य जीवन की सीमाओं के पार चला जाएगा।

मोहन का पुनः उभरना–हँसता हुआ, जीवित, अप्रभावित–एक गहरे अर्थ को लिए था। यह कुंडलिनी के गहराइयों से उठकर सहस्रार तक पहुँचने जैसा था–विजयी और दीप्तिमान। उसके बाद जो राहत, विस्मय और आनंद फैला, वह सरल ग्रामीण रूप में उस आनंद को दर्शाता है, जो जागरण के बाद आता है। कोई परिवर्तित होकर लौटता है, और आसपास के लोग भी उस परिवर्तन को महसूस करते हैं, भले ही उसे नाम न दे सकें।

उस समय प्रेमयोगी यह सब योग की भाषा में नहीं समझता था। पर कुछ मूलभूत अंकित हो चुका था। उसने भय को देखा था, पर उसमें डूबा नहीं था। उसने अवरोह देखा था, पर विनाश नहीं। शायद अनजाने में उसने उसी गाँव की घटना में अपना पहला वास्तविक योग-पाठ प्राप्त कर लिया था–जो आगे चलकर तब काम आया, जब वैसी ही गहराइयाँ बाहर नहीं, भीतर खुलीं।

जो शास्त्र प्रतीकों में कहते हैं, जीवन ने उसे खेल के माध्यम से पहले ही दिखा दिया था।

और जो पाठ जी लिया जाए, वह कभी छूटता नहीं।

अवचेतन सदा अप्रस्तुत मन को खतरे जैसा लगता है। वह प्रतीकों, अफ़वाहों और विरासत में मिले भय की भाषा बोलता है। पर जो बिना घबराए देख पाता है, उसके लिए वह ऊर्जा का भंडार बन जाता है।

प्रेमयोगी ने उस समय इसका विश्लेषण नहीं किया। उसने केवल यह देखा कि उस दिन के बाद भय ने उस पर अपना कुछ अधिकार खो दिया था। वह उसका सम्मान करता था, पर उसका दास नहीं रहा।

खेल चलता रहा। शरारत चलती रही। मोहन तूफ़ान बना रहा।

पर कुछ अपरिवर्तनीय घट चुका था।

एक मौन साक्षी जन्म ले चुका था।

यह अध्याय *लीला: योगी से पहले* में पहला वास्तविक मोड़ है। यह दिखाता है कि योग का बीज ध्यान या उपदेश में नहीं फूटा। वह भय की सीमा पर, एक गहरे सरोवर के पास फूटा– जब एक बालक ने जाना कि मृत्यु निकट प्रतीत होने पर भी चेतना अक्षुण्ण रह सकती है।

उस दिन के बाद प्रेमयोगी केवल जीवन की लीला का सहभागी नहीं रहा। उसने देखने का अर्थ चख लिया था।

और जो एक बार देखा जाए, वह फिर कभी अनदेखा नहीं होता।

अध्याय 5

वह सर्प जिसे खींचना नहीं चाहिए

यह अध्याय एक अधिक शांत, परंतु अधिक तीक्ष्ण शिक्षा को प्रकट करता है—कि हर फँसी हुई ऊर्जा को बलपूर्वक मुक्त नहीं किया जाना चाहिए। कुछ गतियाँ केवल धैर्य से परिपक्व होती हैं। यह घटना कुंडलिनी-संयम का एक जीवंत रूपक बन जाती है, जहाँ बुद्धि के बिना करुणा विनाशकारी हो सकती है, और स्थिरता स्वयं एक उच्चतर बुद्धिमत्ता सिद्ध होती है।

यह एक साधारण दोपहर की बात थी। तेज़ धूप फैली हुई थी। हल्की ढलान वाली घास की ज़मीन पर गायें आलस्य से चर रही थीं। धरती खुली, पीली-हरी और शांत थी। वातावरण में किसी शिक्षा का कोई संकेत नहीं था। प्रेमयोगी, मोहन और गाँव का एक अन्य लड़का बिना किसी उद्देश्य के टहल रहे थे—बातें करते, हँसते, यूँ ही पत्थर उछालते हुए, गायों को धीरे-धीरे चबाते देखते हुए। यह उन घंटों में से एक था, जब जीवन बिना किसी प्रयास के ही पूर्ण लगता है।

तभी उनकी दृष्टि एक हलचल पर पड़ी। एक उथले मिट्टी के गड्ढे के पास कुछ बड़ा प्राणी ज़ोर से मरोड़ खा रहा था। पहली नज़र में वह सर्प जैसा लगा, पर ध्यान से देखने पर स्पष्ट हुआ कि वह एक बड़ा, सर्प-सदृश छिपकलीनुमा जीव था—मोटे शरीर वाला, प्राचीन-सा दिखने वाला, जो आधा गड्ढे में फँसा हुआ था। उसका आगे का भाग अटका हुआ था, जबकि पिछला भाग उग्र रूप से छटपटा रहा था। उसकी पूँछ तेज़ और मांसल थी, जो ज़ोर से धरती पर प्रहार कर रही थी। यह प्राणी मुँह से नहीं काटता था; यह अपनी पूँछ से आक्रमण करता था।

हर हरकत स्वयं को मुक्त करने का प्रयास थी—और हर प्रयास असफल हो रहा था।

एक कुत्ता वहाँ आ गया। वह चक्कर काटने लगा, भौंकता हुआ, पास आता और पीछे हट जाता। छिपकली और अधिक ज़ोर से तड़पने लगी। धूल उड़ने लगी। बार-बार के प्रहारों से घास झुक गई। गड्ढा अडिग बना रहा।

मोहन ने तुरंत प्रतिक्रिया की।

उसके भीतर करुणा आग की तरह उठी। उसका चेहरा कस गया, आँखें चौकन्नी हो गईं। उसे कुछ करने, बचाने, हस्तक्षेप करने की तीव्र इच्छा हुई। बिना रुके उसने प्रेमयोगी की ओर देखा और तीखे स्वर में कहा कि पहाड़ी पर बने पशु-शाला से एक कपड़ा ले आओ, जल्दी करो, हमें इसे बाहर खींचना होगा। यह अनुरोध नहीं था। यह आदेश था—तत्कालता, अधिकार और तनाव से भरा हुआ।

प्रेमयोगी नहीं हिला।

वह स्थिर खड़ा रहा–प्राणी को देखता हुआ, मोहन को देखता हुआ, और पूरे दृश्य में फैलते तनाव को देखता हुआ। उसने खतरे को स्पष्ट रूप से महसूस किया। यदि वह जीव अचानक मुक्त हो गया, तो उसकी पूँछ पूरी शक्ति से प्रहार कर सकती थी। कोई घायल हो सकता था। उसने एक और बात भी महसूस की–जो कम स्पष्ट थी, पर अधिक गहरी थी।

ऊर्जा फँसी हुई थी।

उसने मना कर दिया।

मोहन ने फिर कहा, इस बार और ऊँचे स्वर में। प्रेमयोगी ने फिर मना कर दिया।

मोहन में क्रोध उभर आया। उसने चिल्लाकर कहा कि यदि यह मर गया, तो यह तुम्हारी वजह से होगा, तुम्हारे भीतर दया नहीं है, तुम जानवरों जैसे क्रूर हो, और यदि तुम इतने मानवीय हो तो मदद क्यों नहीं करते। प्रेमयोगी टस से मस नहीं हुआ।

उसने न तो बहस की, न सफ़ाई दी, न प्रत्यारोप किया। उसने केवल यह देखा कि मोहन स्वयं कपड़ा लाने नहीं गया। मोहन को यह विश्वास था कि वही अकेला इतना साहसी है कि प्राणी को बाहर खींच सकता है, और बाकी लोग केवल सहायक कार्यों के लिए हैं। करुणा के भीतर गर्व छिपा हुआ था–नायक बनने की इच्छा।

कुत्ता फिर भौंका। छिपकली ने फिर प्रहार किया। पूँछ हवा में तेज़ी से लहराई।

प्रेमयोगी ने स्पष्ट रूप से अनुभव किया–यह खींचने का समय नहीं है।

हर फँसा हुआ जीवन बलपूर्वक बचाया नहीं जाना चाहिए। हर पीड़ा हस्तक्षेप से समाप्त नहीं होती। कुछ गाँठें केवल समय से ढीली होती हैं–या जल्दबाज़ी में तोड़ने पर खतरनाक ढंग से टूट जाती हैं।

अंततः वे वहाँ से चले गए। किसी को नहीं पता उस प्राणी का क्या हुआ। संभव है वह स्वयं को मुक्त कर सका हो। संभव है वह और भीतर चला गया हो। संभव है वह मर गया हो। जीवन ने कोई निष्कर्ष नहीं दिया।

पर शिक्षा रह गई।

बहुत बाद में प्रेमयोगी समझ पाया कि उस क्षण ने उसे क्या सिखाया था। योग की भाषा में वह सर्प ऊर्जा था–शक्तिशाली, जीवंत, पर अवरुद्ध। गड्ढा एक बंद नाड़ी थी। छटपटाती पूँछ

वह अशांत प्राण थी, जो स्पष्टता के बिना मुक्ति खोज रही थी। मोहन वह आवेगी उद्धारकर्ता था–राजसिक प्रवृत्ति, जो तत्काल कर्म, तत्काल आरोहण और तत्काल उद्धार चाहती है।

प्रेमयोगी कुछ और का प्रतिनिधित्व कर रहा था।

उसने अनुभव किया कि अवरोध के माध्यम से ऊर्जा को ज़ोर से ऊपर खींचना, उसे वहीं छोड़ देने से भी अधिक खतरनाक हो सकता है। सर्प को खींचना उद्धारकर्ता को घायल कर सकता था। उसे दबाना उसका दम घोंट सकता था। उसे वैसा ही रहने देना क्रूरता नहीं थी–वह बुद्धिमत्ता थी।

जब ऊँचे केंद्रों से ऊर्जा को अचानक नीचे लाया जाता है, तो सांसारिक जीवन में असंतुलन पैदा हो सकता है। जो व्यक्ति लंबे समय तक उच्च चेतना में रहा हो, वह ऊर्जा के निचले केंद्रों में उतरने पर अस्थायी रूप से उसे सँभालना भूल सकता है। अनुकूलन में समय लगता है। इसी कारण शास्त्रीय परंपराएँ सलाह देती हैं कि ऊर्जा को धीरे और सजगता से नीचे लाया जाए।

कुछ लोग उच्च अवस्थाओं में रहते हुए जानबूझकर तामसिक तत्वों का सेवन करते हैं–जैसे भारी भोजन, नशा या कुछ तांत्रिक पंचमकार–ताकि सांसारिक आवश्यकता में ऊर्जा को जल्दी नीचे खींचा जा सके। यह कभी-कभी काम करता है, पर प्रायः आघात भी देता है। कुछ लोग अनजाने में ऐसे संग में पड़ जाते हैं, या अत्यधिक भौतिक, निम्न-ऊर्जा या अआध्यात्मिक वातावरणों, घरों या सामाजिक वृत्तों में प्रवेश कर जाते हैं। ये भी ऊर्जा को अचानक नीचे खींच लेते हैं।

सात्त्विक, अद्वैत-बोध से प्रकाशित मन अचानक आई तामसिक अंधकार को सहजता से सहन नहीं कर पाता। झुंझलाहट तुरंत प्रकट होती है। झगड़े हो सकते हैं। चरम स्थितियों में शारीरिक टकराव तक हो सकता है। यद्यपि व्यक्ति शीघ्र संतुलन पा ले, पर छवि को हुई क्षति पहले ही घट चुकी होती है। एक बार धूमिल हुई प्रतिष्ठा आसानी से लौटती नहीं। पारिवारिक जीवन प्रभावित होता है। संबंधों में तनाव आता है। आंतरिक हानि उस क्षणिक राहत से कहीं अधिक होती है, जो तेज़ी से ग्राउंडिंग से मिलती है।

इसीलिए उच्च योग-परंपराएँ परिष्कृत चेतना वालों को तामसिक वस्तुओं, स्थानों और लोगों के प्रति सावधानी की बार-बार चेतावनी देती हैं। यह सावधानी स्वयं योग का ही अंग है। साधना के प्रारंभिक स्तरों पर ऐसा संपर्क अधिक मायने नहीं रखता, पर ऊँचे स्तरों पर इसका महत्व बहुत गहरा हो जाता है।

कथाओं में कृष्ण कभी कौरवों या दैत्य जैसे तामसिक बलों की संगति में नहीं रहते। वे पांडवों, देवों और उच्च शक्तियों के साथ रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि ईश्वर भेद करता है–दिव्यता सर्वत्र समान है। इसका अर्थ यह है कि योगी को भेद करना होता है। ईश्वर कहीं भी अप्रभावित रह सकता है। योगी नहीं।

इसलिए अवरोहण भी आरोहण जितना ही महत्त्वपूर्ण है। बिना गिरे नीचे आना जानना उतना ही आवश्यक है, जितना ऊपर उठना जानना। ऊर्जा को बुद्धि, धैर्य और समय-बोध के साथ सँभालना चाहिए–अन्यथा प्रकाश भी अशांति का कारण बन सकता है।

यह कुंडलिनी का वह पाठ था, जिसे कोई शास्त्र सीधे नहीं सिखाता।

जब ऊर्जा अवरुद्ध हो–
उसे बलपूर्वक ऊपर मत खींचो।
उसे आक्रामक रूप से नीचे मत धकेलो।
विनम्रता के बिना हस्तक्षेप मत करो।

ऊर्जा की अपनी बुद्धि होती है। यदि उसे छेड़ा न जाए, तो वह या तो स्वयं घुलकर विलीन हो जाएगी, या सुरक्षित स्थान पर लौट जाएगी, या अपना मार्ग स्वयं ऊपर की ओर खोज लेगी। बलपूर्वक की गई करुणा प्रायः अहं को छिपाए रहती है। सच्ची करुणा में धैर्य शामिल होता है।

मोहन की दया वास्तविक थी–पर गर्व और आदेश से मिश्रित थी। प्रेमयोगी का इनकार शीतलता समझा गया–पर वह स्पष्टता थी। वह सहायता का विरोध नहीं कर रहा था; वह उद्धार के नाम पर हिंसा का निषेध कर रहा था।

इस घटना ने उसके भीतर कुछ गहरा स्थिर कर दिया।

आगे चलकर, जब ध्यान, इच्छा, अध्ययन या मौन में तीव्र ऊर्जाएँ उठीं, तो उसे यह सर्प स्मरण आया। उसने संवेदनाओं को बलपूर्वक ऊपर खींचना नहीं सीखा। आनंद के पीछे भागना नहीं सीखा। आरोहण को नाटकीय बनाना नहीं सीखा। उसने ऊर्जा को अपने समय से परिपक्व होने देना सीखा।

जब नाड़ियाँ अवरुद्ध थीं, वह प्रतीक्षा करता था।
जब संवेदनाएँ तीक्ष्ण थीं, वह उन्हें कोमल करता था।
जब दबाव बढ़ता था, वह जबरन मुक्ति नहीं खोजता था।

इस संयम ने अनेक खतरों से उसे बचाया–मानसिक असंतुलन, भावनात्मक बाढ़ और समय से पहले टूटन से।

कृष्ण-जीवन की भाषा में यह एक अधिक सूक्ष्म लीला है। कृष्ण हर बार तुरंत पर्वत नहीं उठाते। कभी-कभी वे बस खड़े रहते हैं, संतुलन को स्वयं लौटने देते हैं।

यह पाठ नैतिक नहीं था। यह ऊर्जात्मक था।

बुद्धि के बिना करुणा घायल करती है।
विनम्रता के बिना कर्म विकृत करता है।
समय के बिना बल विनाश करता है।

यह अध्याय वीरता, उद्धार या सफलता पर समाप्त नहीं होता। यह संयम पर समाप्त होता है –जो आध्यात्मिक जीवन का सबसे अधिक गलत समझा गया गुण है।

उस सर्प ने उसे वह सिखाया, जो कोई गुरु नहीं सिखा सकता था–कि हर गाँठ हाथ से खोलने के लिए नहीं होती। कुछ गाँठें स्थिरता से ढीली होती हैं।

इसी कारण यह अध्याय गति और मौन के बीच चुपचाप खड़ा है–उस क्षण को चिन्हित करता हुआ, जब प्रेमयोगी ने सीखा कि वास्तविक दक्षता ऊर्जा को ऊपर खींचने में नहीं, बल्कि यह जानने में है कि कब उसे छूना ही नहीं चाहिए।

अध्याय 6
दो बैल और मौन संहिता

जिस स्थान पर सर्प ने संघर्ष किया था, उससे लगभग सौ मीटर ऊपर मिट्टी और लकड़ी से बना एक पुराना आश्रय खड़ा था। वह सरल, घिसा-पिटा और एकांत में स्थित था, जंगल के बीच शांतिपूर्वक टिका हुआ। नीचे घाटी और ऊपर की पहाड़ी के बीच भूमि सीढ़ियों की तरह उठती थी—दो या तीन समतल धरातल, जिनके बीच घास से ढकी ढलानदार दीवारें थीं, मानो पहाड़ी में चौड़े पायदान काट दिए गए हों।

गाँव की बसावट बहुत नीचे, लगभग एक किलोमीटर दूर मध्य-घाटी में थी। वहाँ से, साफ़ दिन के उजाले में, ऊपर की पहाड़ी-रेखा और उस पर बने छोटे से आश्रय को देखा जा सकता था, जहाँ दो बैल बँधे रहते थे।

वे हल जोतने के काम आते थे। हर सुबह उन्हें बाहर निकाला जाता, रस्सियाँ ढीली की जातीं, और उन्हें ढलानों पर दिन भर खुलकर चरने के लिए ले जाया जाता—मुख्यतः मोहन द्वारा। शाम को उन्हें वापस लाया जाता और फिर से अपने खूँटों के पास बाँध दिया जाता। रात के लिए थोड़ी-सी सूखी घास रख दी जाती—बहुत अधिक नहीं, क्योंकि दिन में वे हरा चारा पर्याप्त खा चुके होते थे। पानी वे पास ही उसी पहाड़ी पर स्थित एक तालाब से पीते थे—वही तालाब जिसमें सर्पों और गहरी शांति का वास था।

वह आश्रय जंगल से घिरा, एकांत में खड़ा रहता था। रात में जंगल जीवंत हो उठता था। शिकारी जानवर अवश्य ही आसपास से गुजरते होंगे, चक्कर लगाते, देखते होंगे। कोई भी छोटी चूक—कोई खुला दरवाज़ा, कोई ढीली रस्सी—हमले का कारण बन सकती थी। फिर भी ऐसा कभी नहीं हुआ।

ऐसा प्रतीत होता था मानो उन बैलों ने उस स्थान के साथ कोई समझ बना ली हो।

उस एकांत और मौन खतरे में उन्होंने आपसी संगति विकसित कर ली थी। वे पास-पास खड़े रहते, साथ-साथ चलते, और किसी भी आहट पर घबराहट के बजाय सजगता से प्रतिक्रिया देते। ऐसा लगता था जैसे वे अपने ढंग से "संवाद" करते हों—ऊष्मा, चेतना और चौकसी साझा करते हुए।

बड़ा बैल विशाल, शक्तिशाली और शांत था। उसमें एक ऋषि-सदृश गुण था। वह मनुष्यों पर कभी आक्रमण नहीं करता था। वह अनावश्यक रूप से अन्य पशुओं से नहीं लड़ता था। उसमें सात्त्विक उपस्थिति थी—स्थिर, धरातली, अप्रेरित। विचलित होने पर भी वह अंधी प्रतिक्रिया नहीं देता था।

छोटा बैल अपेक्षाकृत छोटा, चंचल और बाहरी रूप से आक्रामक था। वह खतरों पर तुरंत प्रतिक्रिया करता, ज़मीन पर पैर पटकता, सिर झुकाता और लड़ने को तत्पर दिखता। फिर भी बड़े बैल के प्रति वह गहरा सम्मान और आज्ञाकारिता रखता था। वह कभी उसे चुनौती नहीं देता था। इसके विपरीत, वह रक्षात्मक स्थिति में रहता—बाहरी हलचलों पर सदा सजग, सदा रक्षा के लिए तैयार।

प्रेमयोगी ने इस संबंध-गति को कई बार देखा।

धीरे-धीरे, बिना कोई नाम दिए, उसने एक गहरा योग-पाठ आत्मसात कर लिया।

संसार में आत्म-रक्षा के लिए शक्तिशाली बनो—पर उस शक्ति का उपयोग किसी ऋषि, गुरु, बुज़ुर्ग, शिक्षक या ज्ञान-धारक के विरुद्ध कभी मत करो। इसके स्थान पर उनकी रक्षा करो।

छोटा बैल राजसिक शक्ति का प्रतीक था। बड़ा बैल सात्त्विक बुद्धि का। बुद्धि के बिना शक्ति हिंसा बन जाती है। संरक्षण के बिना बुद्धि असुरक्षित हो जाती है। दोनों मिलकर संतुलन रचते हैं।

यह अंतर्दृष्टि प्रेमयोगी के भीतर गहराई से बैठ गई।

आगे चलकर जीवन में इस मौन संहिता ने उसे बार-बार दिशा दी। इसने गुरु-सिद्धांत के प्रति उसकी आस्था को आकार दिया—अंध-पूजा के रूप में नहीं, बल्कि बुद्धिमत्तापूर्ण श्रद्धा के रूप में। उसने शिक्षकों को केवल व्यक्तियों में ही नहीं, हर जगह पहचानना सीखा। अनेक उसके गुरु बने—बुज़ुर्ग, मित्र, पुस्तकें, अनुभव, असफलताएँ, पशु, यहाँ तक कि कुत्ते भी। आगे चलकर कंप्यूटर और इंटरनेट ने भी उसे सिखाया। ज्ञान अनेक दिशाओं से आया, और जहाँ से भी आया, उसने भीतर ही भीतर नमन करना सीखा।

साथ ही उसने यह भी सीखा कि ज्ञान का कभी अपमान या उपहास नहीं करना चाहिए—भले ही वह सरलता या मौन में लिपटा हो। और जब आवश्यकता हो, तो अज्ञान के विरुद्ध दृढ़ता से खड़ा होना चाहिए—पर अहंकार के बिना।

यह संतुलन आगे चलकर योग में उसके लिए अत्यंत सहायक सिद्ध हुआ।

ऊर्जा विनम्रता का सम्मान करती है। श्रद्धा के वातावरण में ज्ञान विकसित होता है। शक्ति तभी सुरक्षित होती है, जब वह स्पष्टता की सेवा में खड़ी हो।

एक निर्जन पहाड़ी पर खूँटों से बँधे वे दो बैल उसे वह सिखा गए, जिसे कोई शास्त्र इतनी सीधे भाषा में नहीं समझा सकता था।

और उन्होंने यह शिक्षा बिना एक शब्द कहे दे दी।

अध्याय 7

लीला के भीतर जागरूकता – प्रेमयोगी वज्र का निर्माण

पहले भाग का यह अंतिम अध्याय खेल, शरारत, भय, आकर्षण और परिणाम के बिखरे हुए सभी सूत्रों को एकत्र करता है और उन्हें एक ही आंतरिक समझ में बुन देता है। जो घटनाएँ पहले असंबद्ध प्रतीत होती थीं–भागना, डाँट, जंगल की दावतें, तालाब का भय और बचकानी भूलें–अब एक शांत प्रशिक्षण-भूमि के रूप में स्वयं को प्रकट करती हैं। यह अध्याय उस सटीक मोड़ को दिखाता है जहाँ प्रेमयोगी केवल जीवन की लीला का सहभागी ही नहीं रहता, बल्कि उसके भीतर एक मौन द्रष्टा भी जन्म ले लेता है। यहाँ कृष्ण-तत्त्व किसी नियंत्रण या चमत्कार में नहीं, बल्कि ऐसी सजग, खेलपूर्ण जागरूकता में परिपक्व होता है, जो स्थिर होते हुए भी कोमल बनी रहती है।

पीछे मुड़कर देखने पर प्रेमयोगी समझ सका कि उन वर्षों में कुछ भी व्यर्थ नहीं गया था। हर घटना, चाहे उस समय कितनी ही साधारण या अव्यवस्थित क्यों न लगी हो, उसके स्नायु-तंत्र पर एक सूक्ष्म छाप छोड़ गई थी। क्रोधित किसानों से भागने ने केवल उसके पैरों को ही नहीं, उसके समय-बोध को भी प्रशिक्षित किया था। उसने सीख लिया था कि कब तेज़ दौड़ना है और कब चुपचाप ओझल हो जाना है। यह प्राण का प्रारंभिक संस्कार था–गति का घबराहट नहीं, बल्कि लय सीखना।

डाँट और मार, जो कभी अनुचित या अत्यधिक लगती थीं, उन्होंने कुछ और ही सिखाया। उन्होंने विरक्ति का अभ्यास कराया। उसने जाना कि शब्द बीत जाते हैं, क्रोध ठंडा पड़ जाता है, और प्रतिष्ठा मौसम की तरह उठती-गिरती रहती है। शरीर को पीड़ा होती थी, पर मन ने अपमान से चिपकना नहीं सीखा। योग की भाषा में यह ग्रंथियों का ढीला पड़ना था–पहचान की गाँठों का खुलना–उससे बहुत पहले कि वह इन शब्दों को जानता। वास्तव में, कठोर डाँट और मार अधिकतर मोहन के लिए होती थी, क्योंकि वही शरारत का प्रत्यक्ष स्रोत था, जबकि प्रेमयोगी को मित्रता के कारण केवल परोक्ष परिणाम झेलने पड़ते थे। इसी कारण वे दोनों मिलकर बाल-कृष्ण का रूप थे, अलग-अलग नहीं। कथाओं में भी बाल-कृष्ण ने माता यशोदा का स्नेहपूर्ण अनुशासन, यहाँ तक कि कभी-कभी छड़ी भी, स्वीकार की है।

अराजकता, विशेषकर मोहन के आसपास, ने सजगता को प्रशिक्षित किया। अनिश्चितता के निकट रहना उसकी इंद्रियों को तीक्ष्ण बनाए रखता था। उसने चेहरों, स्वरों, मौन और मनोभावों के अचानक बदलने को पढ़ना सीख लिया। जागरूकता बिना प्रयास के कार्य करने लगी। यही सजगता आगे चलकर आंतरिक साधनाओं के लिए आवश्यक स्वाभाविक स्थिरता बनी, जहाँ वास्तविक शत्रु विचलन होता है।

आकर्षण धीरे-धीरे उसके जीवन में आया—क्षणिक दृष्टियों, आधी मुस्कानों और दूसरों की शांत जिज्ञासा के रूप में। वह न नाटकीय था, न माँगा हुआ। इससे उसने सीखा कि केवल उपस्थिति में भी भार होता है। जब कोई स्वयं में स्थिर होता है, तो ध्यान स्वाभाविक रूप से आता है। उसने उसका पीछा नहीं किया, फिर भी वह उसके पीछे चला आया।

इससे उसने एक और गहरा पाठ सीखा—शक्ति को बाहर व्यक्त होने के लिए बल की आवश्यकता नहीं होती। जब ऊर्जा अवरुद्ध या नियंत्रित नहीं की जाती, तो वह आकर्षण, प्रभाव और ऊष्मा के रूप में स्वयं को प्रकट करती है। कुंडलिनी की भाषा में यह ऊर्जा का बिना घर्षण, संघर्ष या हिंसा के सहज आरोहण था।

मोहन इसलिए आकर्षक था क्योंकि वह अपनी ऊर्जा को बलपूर्वक बाहर धकेलता था। उसकी उपस्थिति तेज़, विघटनकारी और अनदेखी न की जा सकने वाली थी। प्रेमयोगी, इसके विपरीत, इसलिए आकर्षक था क्योंकि वही ऊर्जा वह अद्वैत भाव और स्वाभाविक विरक्ति के साथ भीतर समेट लेता था। एक बाहर की ओर फैलता था, दूसरा भीतर की ओर। इस प्रकार मोहन बिना प्रेमयोगी के कच्चा और अपरिष्कृत रह जाता, और प्रेमयोगी बिना मोहन के जीवन-शक्ति के पूरे विस्तार से अनभिज्ञ रह जाता। अलग-अलग दोनों अधूरे थे।

साथ मिलकर उन्होंने एक-दूसरे को पूर्ण किया और परस्पर मूल्य जोड़ा। उनका संबंध उस पुराने दृष्टांत जैसा था जिसमें अंधा और लँगड़ा साथ चलते हैं—लँगड़ा अंधे के कंधों पर बैठता है; एक गति देता है, दूसरा दृष्टि। अकेले कोई दूर नहीं जा सकता; साथ मिलकर दोनों अर्थपूर्ण ढंग से आगे बढ़ते हैं।

इस जीवंत विरोधाभास से प्रेमयोगी ने एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा सीखी—अराजक या बहिर्मुखी लोगों से विचलित होने की आवश्यकता नहीं है। उनके मूल्य को स्वीकार कर और उन्हें अद्वैत जागरूकता से मिलाकर उनकी ऊर्जा को शोर के बजाय प्रकाश में बदला जा सकता है। वास्तव में अद्वैत स्वयं सर्वोच्च जागरूकता है, क्योंकि वह शुद्ध चेतना के सबसे निकट है। जितनी शुद्ध जागरूकता, उतना ही सहज एकीकरण।

यह समझ आगे चलकर उसकी योग-यात्रा में अत्यंत सहायक हुई। उसने पाया कि अनेक बहिर्मुखी लोग अपनी बाह्य अभिव्यक्ति में स्वाभाविक रूप से प्रसन्न होते हैं और उसे अंतर्मुखी लोगों पर थोपने का प्रयास नहीं करते। वे आंतरिक मौन और बाहरी अभिव्यक्ति—दोनों का समान रूप से सम्मान करते हैं। ऐसे बहिर्मुखी उसके सबसे बड़े सहायक बने, क्योंकि उनकी ऊर्जा जागरूकता को बाधित किए बिना योग का समर्थन करती थी।

पर उसने एक दूसरा प्रकार भी देखा—वे बहिर्मुखी लोग जो हर समय, मानो, सिर के बल खड़े रहते हैं; जो अंतर्मुखी स्वभाव का अपमान करते हैं और सबको अपने ही ढाँचे में ढालना

चाहते हैं। इन्हें सँभालना उसके लिए सबसे कठिन था। उनसे मिलने वाला कोई भी योगिक लाभ, भीतर की जागरूकता को फिर से बाहर खींचने के उनके दबाव का प्रतिरोध करने में अत्यधिक ऊर्जा खर्च करके ही मिलता था।

प्रेमयोगी ने एक सूक्ष्म किंतु महत्त्वपूर्ण बात समझी—जीवन का वास्तविक कार्य, जैसे परिवार, पेशा और सामाजिक व्यवहार, बहिर्मुखी और अंतर्मुखी दोनों ही समान रूप से अच्छे से निभाते हैं। कई बार अंतर्मुखी लोग, उसकी तरह, इसे और भी कुशलता से करते हैं, क्योंकि अनावश्यक बाह्य अपव्यय से बहुत ऊर्जा बच जाती है। वास्तविक अंतर कर्म में नहीं, जागरूकता में है।

आरंभ से ही प्रेमयोगी ने सब कुछ अद्वैत के माध्यम से करने का प्रयास किया—पहले अनजाने में पारिवारिक संस्कारों से, और बाद में अपनी विकसित होती समझ से, जिसे वह आगे चलकर शरीर-विज्ञान-दर्शन और क्वांटम दर्शन कहेगा। जीवन ने स्वयं उसे सिखाया कि जागरूकता को ऊर्जा से लड़ने की आवश्यकता नहीं होती; उसे केवल उसे धारण करना होता है।

इस प्रकार जो कुछ एक तूफ़ान और एक मौन के बीच बाल्यकाल के खेल के रूप में आरंभ हुआ था, वह एक आजीवन सिद्धांत में परिपक्व हुआ—बाह्य बल और आंतरिक अवशोषण शत्रु नहीं हैं। जागरूकता में एक साथ धरे जाने पर वे एक-दूसरे को पूर्ण करते हैं, और वही पूर्णता योग है।

यह सत्य है कि अद्वैत का चिंतन भी थोड़ी ऊर्जा खर्च करता है, क्योंकि ऊर्जा के बिना कुछ भी नहीं होता। इस हल्के व्यय के कारण सांसारिक गतिविधि पर कुछ सूक्ष्म प्रभाव दिख सकता है, पर यह केवल अनुभवी या अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि वाले लोगों को ही दिखाई देता है, दूसरों को नहीं।

दीर्घकाल में यह छोटी-सी ऊर्जा-निवेश कई गुना लौटता है—जैसे एक रुपया लगाकर दस मिल जाना। अद्वैत से समन्वय, सामंजस्य, धैर्य और मानवीय संवेदनशीलता जैसे गुण स्वाभाविक रूप से विकसित होते हैं, और ये उस विशाल ऊर्जा को बचा लेते हैं जो अन्यथा संघर्ष, प्रतिरोध और आंतरिक घर्षण में नष्ट हो जाती। वही संचित ऊर्जा आगे गहरे आध्यात्मिक विकास के लिए उपलब्ध हो जाती है।

वास्तव में प्रेमयोगी के प्रारंभिक जीवन की लगभग हर घटना छद्म रूप में कुंडलिनी योग थी, ठीक वैसे ही जैसे भागवत पुराण में कृष्ण का जीवन प्रतीकात्मक रूप से खुलता है। जो बाहर से खेल दिखता था, वह भीतर एक मौन अनुशासन था। पहाड़ियों पर दौड़ना और फिर पशु चराते समय लंबे क्षणों तक स्थिर खड़े रहना, किसी योगी की रीढ़ के समान था जो विभिन्न

चक्रों पर गति और गहरे ध्यान के बीच अदल-बदल करती है। शरीर अर्थ जानने से बहुत पहले लय सीख रहा था।

हर दिन पहाड़ी की चोटी तक पहुँचना सहस्रार को छूने जैसा था, और हर शाम नीचे गाँव में लौट आना मूलाधार में वापसी जैसा। प्रतिदिन एक पूर्ण कुंडलिनी-चक्र पूरा हो जाता—आधार से उठना, शिखर को छूना और फिर धरातल पर लौट आना। यह सब बिना प्रयास, बिना इरादे, पर पूर्ण नियमितता के साथ घटता था।

पहाड़ी पर जलाई गई आग केवल भोजन पकाने के लिए नहीं थी; प्रतीकात्मक रूप से वह जागरण की अग्नि थी। उस आग में मक्का भूनना, अधूरे विचारों को जागरूकता में लाने जैसा था—उन्हें ताप में रखना, उन्हें फूटते, नरम होते और अंततः घुलते देखना। खाने के बाद जो बचता था, वह भारीपन नहीं, बल्कि हल्कापन और शांत संतोष था—वही राहत जो किसी विचार के पूर्ण होकर पकड़ छोड़ देने पर मिलती है।

किसानों के खेतों से मक्का चुराने में भी एक गहरा सत्य छिपा था। विचार भी वास्तव में हमारे नहीं होते। वे संसार, स्मृति, संस्कार और परिवेश से उत्पन्न होते हैं। खेतों में उगी फसल की तरह, विचार भी बाह्य जगत के होते हैं, उस व्यक्ति के नहीं जो उन्हें क्षण भर ढोता है। उन्हें देखना, जागरूकता में पकाना और घुलने देना अपराध-बोध नहीं, मुक्ति देता है।

इसी प्रकार अपने ही मेज़बान-घर से गुड़ और नारियल चुराने में भी एक सूक्ष्म पाठ था। यह जीवन को दिया गया एक मौन संदेश था—संचित प्रचुरता को जमा मत करो; बाँटो। अतिरिक्त भार—चाहे भौतिक हो या मानसिक—बोझ बन जाता है। उसे बाँटना शरीर को हल्का करता है, हृदय खोलता है और आध्यात्मिक विकास के लिए अधिक अनुकूल स्थिति बनाता है। मर्यादा के साथ पुनर्वितरण करना, संग्रह के स्थान पर, भारीपन को घोलकर सहजता और खुलापन ले आता है।

यह सीख शास्त्रों या नैतिक उपदेशों से नहीं आई। यह करने से आई। यह व्यावहारिक थी, जी हुई थी, और सीधे स्नायु-तंत्र में समा गई थी। इस अर्थ में मोहन सनातन धर्म के लिए एक जीवंत प्रयोगशाला बन गया। उसके माध्यम से सिद्धांत पढ़े या अपनाए नहीं गए; वे घटित हुए। धर्म पुस्तक से शरीर में, विचार से कर्म में उतरा।

मोहन स्वयं शायद यह नहीं जानता था, पर उसने अनेक लोगों को सनातन धर्म को बौद्धिक नहीं, सहज रूप से जीने में सहायता की। इस अचेतन शिक्षण का सबसे बड़ा लाभ प्रेमयोगी को मिला। अनजाने में वह परंपरा के सार को आत्मसात कर रहा था—अनुशासन के रूप में नहीं, बल्कि स्वाभाविक संतुलन के रूप में।

कभी-कभी ऐसा भी लगता था मानो मोहन किसी पूर्वजन्म का ऋण चुका रहा हो, अपनी अशांत ऊर्जा के माध्यम से दूसरों की सेवा करते हुए। यह अद्भुत था कि इतना चंचल और शरारती व्यक्ति–जिसे उसके अपने घर में, माता-पिता या रिश्तेदारों द्वारा भी नियंत्रित नहीं किया जा सका–इतने लंबे समय तक प्रेमयोगी के घर में रह सका। पर यही असंभवता उसके ठहरने का कारण थी। जहाँ नियंत्रण असफल हुआ, वहाँ जागरूकता सफल हुई।

मोहन के साथ रहकर प्रेमयोगी केवल एक परेशान करने वाले लड़के की मेज़बानी नहीं कर रहा था; वह एक ऐसी शक्ति की मेज़बानी कर रहा था, जो उसकी पूरी आंतरिक यात्रा को चुपचाप आकार देने वाली थी।

उस समय इनमें से कुछ भी समझ में नहीं आया था। प्रेमयोगी ने इसे योग नहीं कहा। उसने चक्र, ऊर्जा या अभ्यास की बात नहीं की। जीवन स्वयं उसके माध्यम से अनुशासन कर रहा था। शरीर दैनिक गति के माध्यम से आरोहण-अवरोहण सीख रहा था, स्नायु-तंत्र शरारत और परिणाम के द्वारा ताप और स्थिरता सीख रहा था, और मन बाँटने, खोने और हँसी के माध्यम से छोड़ना सीख रहा था–दर्शन, शब्दावली या शास्त्रों के आने से बहुत पहले।

यह सीख शांत, स्वाभाविक और अपरिवर्तनीय थी। जिसे आगे चलकर नाम और संरचना मिली, वह पहले ही जिया जा चुका था। जो शास्त्र बाद में जटिलता से बताते हैं, उसे उसका बचपन सरलता से जी चुका था। पहाड़ी, आग, दौड़, स्थिरता, अवरोह–सब कुछ सामंजस्य में चलता था।

खेल विधि था।
जागरूकता परिणाम थी।
और कुंडलिनी अपना शांत कार्य पहले ही आरंभ कर चुकी थी।

विशेष रूप से पवित्र तालाब के आसपास का भय स्थिरता का प्रशिक्षण बना। जब अन्य घबराए, उसके भीतर कुछ अडिग रहा। यह एक गहरे केंद्र की पहली झलक थी–एक ऐसा साक्षी-बिंदु जो भूमि खिसकने पर भी नहीं टूटता। प्रतीकात्मक भाषा में, यह वह क्षण था जब कुंडलिनी ने अंधकार को छुआ और ढही नहीं, बल्कि प्रतीक्षा की।

इन अनुभवों को एक साथ देखने पर एक स्पष्ट आंतरिक क्रम उभरता है। भागने ने लय गढ़ी। डाँट ने विरक्ति सिखाई। अराजकता ने जागरूकता को तीक्ष्ण किया। आकर्षण ने ऊर्जा को परिष्कृत किया। भय ने स्थिरता प्रकट की।

इसी प्रकार प्रेमयोगी बदलने लगा–न अचानक, न नाटकीय ढंग से, बल्कि निर्णायक रूप से।

वह अभी भी हँसता था, अभी भी खेलपूर्ण था, अभी भी शरारत का हिस्सा था, पर कुछ मूलभूत बदल चुका था। वह अब घटनाओं द्वारा पूरी तरह बहाया नहीं जाता था। उसने उनके भीतर स्वयं को देखना आरंभ कर दिया था। इससे वह गंभीर या विरक्त नहीं हुआ। उलटे, उसका खेल और हल्का हो गया। जब कोई देखता है, तो वह अति नहीं करता।

उसके भीतर कृष्ण-तत्त्व अब स्पष्ट था—दैवी प्रदर्शन के रूप में नहीं, बल्कि सहज संतुलन के रूप में। उसने शरारत को दबाया नहीं; उसे परिष्कृत किया। उसने इच्छा को नकारा नहीं; उसे देखा। उसने भय का महिमामंडन नहीं किया; वह उससे होकर गुज़रा।

पौराणिक रूपक में, यह कुंडलिनी का बिना हिंसा के ऊपर उठना था। हर घटना एक सूक्ष्म आंतरिक आरोहण के अनुरूप थी। शरारत की आधारभूत प्रवृत्तियाँ मूलाधार से जुड़ी थीं—कच्ची और शक्तिशाली। पहाड़ियों में भटकने का साहस और खेलभाव स्वाधिष्ठान को जाग्रत करता था—आनंद और तरलता। प्रभाव और आकर्षण मणिपूर का संकेत थे—व्यक्तिगत चुंबकत्व। तालाब के आसपास भय और स्थिरता अनाहत को छूती थीं—जहाँ घबराहट शांत उपस्थिति में घुल जाती है। और स्वयं साक्षी—मौन, स्पष्ट, अप्रयास—आज्ञा, देखने के केंद्र का प्रारंभिक जागरण था।

यह सब जानबूझकर नहीं था। यही कुंजी थी।

प्रेमयोगी ने योग का अभ्यास नहीं किया। जीवन ने उसका अभ्यास किया। जो शास्त्र चरणों में बताते हैं, जीवन ने उसे खेल के रूप में दे दिया।

इस चरण के अंत तक उसके भीतर कुछ अटूट बन चुका था। वह जुड़े रहकर भी खोता नहीं था। वह आनंद ले सकता था, पर चिपकता नहीं था। उस पर आरोप लग सकता था, पर वह ढहता नहीं था। उसकी प्रशंसा हो सकती थी, पर वह फूलता नहीं था। वह खेल में रहते हुए भी स्वयं को याद रखना सीख रहा था।

इसीलिए जीवन के इस पूरे चरण को व्यापक कथा में अध्याय शून्य कहना पड़ा। क्योंकि खोज शुरू होने से पहले, अनुशासन आने से पहले, आध्यात्मिक भाषा जीवन में प्रवेश करने से पहले, आधार पहले ही रख दिया गया था।

बाद में जब ध्यान आएगा, वह पराया नहीं लगेगा।
बाद में जब मौन गहरेगा, वह शुष्क नहीं लगेगा।
बाद में जब वैराग्य आकर्षित करेगा, वह कठोर नहीं बनाएगा।

क्यों?

क्योंकि शरीर पहले ही जीवन के भीतर मुक्त होना जान चुका था।

जो बालक जंगल में हँसा था, वही एक दिन उसी सहजता से ध्यान में बैठेगा। आँखें बंद होंगी, पर हँसी खोएगी नहीं। वह बस भीतर की ओर मुड़ जाएगी।

यही है प्रेमयोगी वज्र का निर्माण।
न त्याग से जन्मा योगी, बल्कि खेल से पनपा हुआ।
न पलायन से गढ़ा गया रहस्यवादी, बल्कि सहभागिता से परिष्कृत।
न सत्य का पीछा करता साधक, बल्कि वह बालक जिसने उसे पहले ही चख लिया था–बिना उसका नाम जाने।

और जो एक बार चखा जाए, वह फिर कभी छूटता नहीं।

खेल जागरूकता बन गया।
जागरूकता घर बन गई।

इसी कारण *योगी से पहले लीला* कोई भूमिका नहीं, बल्कि आधार है।

अध्याय 8

योगी के जन्म से पहले

यह अध्याय कालक्रम से आगे बढ़कर निरंतरता में प्रवेश करता है। यह पीछे की ओर देखता है–प्रेमयोगी को समझाने के लिए नहीं, बल्कि यह दिखाने के लिए कि उसका जीवन कभी भी अलग-थलग नहीं रहा। जागरूकता के जागने से बहुत पहले, रस, भक्ति या योग के अनुभव बनने से भी पहले, भूमि पहले ही तैयार हो चुकी थी। जो आगे आता है, वह जीवनी नहीं है; वह विरासत है।

प्रेमयोगी का जीवन उसकी पहली साँस से आरंभ नहीं हुआ। वह बहुत पहले, चुपचाप और अदृश्य रूप से, उन चुनावों, हानियों और गतियों के माध्यम से शुरू हो चुका था, जो उससे पहले आने वालों ने की थीं। उसके परदादा का परिवार कभी स्थिरता और उत्तरदायित्व का जीवन जीता था। वे अपने क्षेत्र के ज़मींदार और प्राचीन साहूकार के रूप में जाने जाते थे, जिन पर गाँव वाले अपने गहने और कीमती वस्तुएँ सुरक्षित रखने के लिए भरोसा करते थे। यहाँ संपत्ति प्रदर्शन नहीं थी; वह संरक्षण थी। फिर एक टूटन आई। चोरों ने सौंपे गए धन का बड़ा भाग लूट लिया। यह केवल आर्थिक क्षति नहीं थी; यह नैतिक त्रासदी थी। किसी तरह भूमि और परिश्रम के माध्यम से परिवार ने लोगों की भरपाई की। विश्वास तो लौट आया, पर कीमत भारी थी। दर्शन के माध्यम से नहीं, बल्कि आवश्यकता के कारण, वैराग्य रक्त-रेखा में प्रवेश कर गया।

पहले की पीढ़ियाँ मैदानों से पहाड़ियों की ओर चली गईं। कारण अब धुँधला है–शायद एकांत की खोज, शायद शांति, शायद बार-बार के आघातों के बाद पीछे हटना। स्मृति धुँधली पड़ जाती है, पर गति बनी रहती है। परिवार ने विस्तार के बजाय ऊँचाई को चुना। प्रेमयोगी के दादा अत्यंत शिक्षित थे। उन्होंने शास्त्रों का गहन अध्ययन किया और शास्त्री की उपाधि लगभग पूरी कर ली थी। पर जीवन ने हस्तक्षेप किया। उनके पिता गंभीर रूप से बीमार पड़ गए और घर पर देखभाल की आवश्यकता हुई। शिक्षा बिना किसी शिकायत के छोड़ दी गई। बाद में एक सरकारी नौकरी–वह भी घर पर–प्रस्तावित हुई, पर उन्होंने उसे ठुकरा दिया, उसे नौकर की नौकरी कहकर। उनका मानना था कि मनुष्य को दूसरों की सेवा नहीं करनी चाहिए, जब वह अपनी भूमि पर जीवित रह सकता है।

विडंबना यह रही कि बाद में कानून के एक निर्णय से अधिकांश भूमि पास के उन कृषकों को चली गई, जो वर्षों से उस पर खेती कर रहे थे और सामाजिक श्रेणी में नीचे माने जाते थे। कुछ विरोध हुआ, कुछ झड़प भी, पर अंततः कानून ही विजयी हुआ। भूमि चली गई। केवल कुछ टुकड़े बचे। इस प्रकार विद्या ने विनम्रता से भेंट की और स्वामित्व ने त्याग से। सीमित आय शेष रहने पर दादा धीरे-धीरे कर्मकाण्ड की ओर मुड़े–घरेलू पूजा-पाठ और

संस्कारों का निर्वाह, छोटे मानधन के साथ–और साथ ही थोड़ी बहुत खेती। आरंभ में ही एक शांत विडंबना थी। गाँव के एक तथाकथित "पिछड़े वर्ग" के बुज़ुर्ग ने उनसे अपने घर में पूजा कराने का अनुरोध किया। जन्म से उच्च जाति में होने पर भी दादा ने सहजता और गरिमा के साथ स्वीकार किया। उन्हें अपमान नहीं, सम्मान का अनुभव हुआ। यह कार्य उनके स्वभाव के अनुरूप था, और उसी एक कर्म से मार्ग स्वाभाविक रूप से खुलता चला गया।

इसके बाद उनके अधिकांश यजमान सामाजिक और आर्थिक रूप से वंचित समुदायों से आए। कई लोगों ने इस चयन पर उनका उपहास किया। कुछ ने संकेत दिया कि उनका दर्जा गिर गया है। वे शांति से उत्तर देते, अक्सर एक ही पंक्ति उद्धृत करते हुए–"कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम्।" अर्थात् पूरे विश्व को उन्नत होने दो। वे कहते थे कि जो पहले से विशेषाधिकार प्राप्त हैं, उन्हें उनकी उतनी आवश्यकता नहीं है। उपेक्षित लोगों को पोषण, गरिमा और आध्यात्मिक आधार की अधिक ज़रूरत होती है। वे भलीभाँति जानते थे कि ऐसे घर बहुत कम लौटा सकते हैं। भुगतान अक्सर प्रतीकात्मक होता, कभी विलंबित, और कभी बिल्कुल नहीं। फिर भी वे बिना कड़वाहट और शिकायत के सेवा करते रहे–कभी बहुत कम के लिए, कभी बिना कुछ लिए।

इन आर्थिक सीमाओं के बावजूद उन्होंने बड़ा परिवार पाला। कठिन समय में बच्चों को पढ़ाया, सम्मान के साथ उनके विवाह किए, और भौतिक संसाधनों के घटते जाने पर भी मर्यादा बनाए रखी। संपत्ति में जो कमी थी, उसकी भरपाई उन्होंने स्थिरता, सेवा और आंतरिक प्रचुरता से की। यह भी योग था–एकांत में किया गया नहीं, नाम दिया हुआ नहीं, औपचारिक नहीं–बल्कि दैनिक जीवन में जिया गया त्याग, सेवा और अद्वैत।

प्रेमयोगी के पिता, सबसे बड़े पुत्र–लंबे, अनुशासित–ने पास के एक पहाड़ी गाँव से उसकी माता से विवाह किया, जहाँ भू-भाग अधिक कोमल था। कथाएँ भिन्न हैं। कुछ कहते हैं कि दोनों परिवारों ने बहुत पहले अपने ज्येष्ठ बच्चों के विवाह का निश्चय कर लिया था। कुछ कहते हैं कि प्रेमयोगी की नानी को उसके पिता के घर के पास की कोमल पहाड़ियाँ अधिक प्रिय थीं, जहाँ पशुओं के लिए घास जुटाना कठिन भूभाग की तुलना में सरल था। उसकी मातृ-पक्ष की वंश-रेखा भी उतनी ही आध्यात्मिक गहराई लिए थी। उसके नाना पूरे क्षेत्र में सम्मानित और प्रसिद्ध कर्मकाण्डी थे। उस परंपरा के संस्कार उसकी माता के माध्यम से स्वाभाविक रूप से उसमें प्रवाहित हुए, जो अपने परिवार की आस्था और परंपराओं में गहराई से रमी हुई थीं। कारण जो भी रहा हो, यह संघ संतुलन लिए था। यह भी योग था। संतुलन ही योग है।

जब प्रेमयोगी का जन्म हुआ, तब उसके पिता दुर्गम पहाड़ी क्षेत्रों में शिक्षक के रूप में कार्यरत थे–दूरस्थ, कठिन और माँग भरे इलाके। रास्ते सँकरे और खतरनाक थे, और रोज़ का आना-

जाना स्वयं साहस, स्थिरता और जोखिम को स्वीकार करने की माँग करता था। उसके चारों ओर का जीवन पहले से ही परिश्रम, अनिश्चितता और सहनशीलता से ढला हुआ था। सुरक्षा दी नहीं जाती थी; उसे क्षण-क्षण जिया जाता था। आत्मिक रूप से यह वैसा ही था, जैसे वसुदेव द्वारा कृष्ण का अवतरण–कंस के कारागार की अंधेरी, खतरनाक और बाध्य परिस्थितियों में। वह कारागार केवल एक स्थान नहीं था; वह एक व्यवस्था थी–कठोर नियम, बंधनकारी कानून और सर्वशक्तिमान अधिकार, जो जन्म से पहले ही जीवन को बाँध लेते हैं।

बाहरी परिस्थितियाँ कठोर थीं, पर आंतरिक उद्देश्य अक्षुण्ण रहा। परिवेश संकुचित था, पर जो वहन किया जा रहा था, उसे रोका नहीं जा सकता था। मार्ग कठिन, अनिश्चित और जोखिम भरा था–पर गति अपरिहार्य थी। जिसे उतरना था, वह उतरा–बाधाओं की परवाह किए बिना। यह अवज्ञा नहीं थी; यह संरेखण था। परिस्थिति के विरुद्ध विद्रोह नहीं, बल्कि उसी के माध्यम से पूर्ति।

प्रेमयोगी के जन्म के आसपास कुछ भी सहज या आरामदेह होने का संकेत नहीं देता था। फिर भी उन्हीं सीमित परिस्थितियों में जीवन शांत रूप से आया–बिना विरोध के। मानो चेतना ने कठिनाई को दंड नहीं, बल्कि आगे के विकास के लिए उपयुक्त भूमि समझकर चुना हो। अवतरण उत्सव में नहीं, सहनशीलता में हुआ। संरक्षण में नहीं, उत्तरदायित्व में हुआ। प्रकाश में नहीं, बल्कि ऐसे भूभाग में हुआ जहाँ प्रकाश को वहन करना पड़ता है। यह बाद में जोड़ा गया प्रतीक नहीं था; यही आगमन की शर्त थी।

जन्म के समय प्रेमयोगी रोया नहीं। न कोई शोर, न कोई अचानक हरकत, न हवा के लिए व्याकुल पकड़। क्षण भर के लिए लोगों को लगा कि शायद जीवन उपस्थित ही नहीं है। था–पर शांत। श्वास थी। ऊष्मा थी। चेतना थी–अंदर की ओर स्थिर, बिना उद्वेग के। यह भी योग था। बाद में सीखा हुआ नहीं, बाद में थोपा हुआ नहीं, बल्कि पूर्वजन्म की साधना का अवशेष। आगमन का कोई झटका नहीं था, कोई बाह्य दौड़ नहीं। प्राण पहले से संतुलित थे–इंद्रियों की ओर न भागते हुए, न इच्छा में बिखरते हुए। वे स्वाभाविक रूप से भीतर टिके थे।

जन्म के साथ कोई आसक्ति घोषित नहीं हुई। कोई लालसा नहीं थी। चेतना रूप की खोज में बाहर नहीं बही। वह एकत्रित रही, मानो अधूरा ध्यान जारी रखे हुए हो। योग की भाषा में ऐसा था, मानो बालक सीधे निर्विकल्प ध्यान से प्रकट हुआ हो–अनुभव के रूप में नहीं, अवस्था के रूप में। जागरूकता बिना विक्षोभ के उपस्थित थी। जीवन बिना शोर के आया।

यह मौन आगमन एक ऐसे प्रतिरूप का पहला संकेत बना, जो आगे बार-बार दोहराया गया–उद्वेग के बिना गति, प्रदर्शन के बिना गहराई, और माँग के बिना उपस्थिति। स्मृति से पहले ही शरीर स्थिर रहना जानता था।

इसके शीघ्र बाद निमोनिया ने परिवार को घेरा। प्रेमयोगी, एक बड़ी बहन और एक छोटी बहन –तीनों प्रभावित हुए। बहनें नहीं बच सकीं। प्रेमयोगी बच गया। डॉक्टरों ने इसे आनुवंशिक कहा। बाद में एक और बहन और एक भाई हुए–दोनों निमोनिया से ग्रस्त, दोनों बचे। पर प्रेमयोगी का बार-बार और लगभग चमत्कारिक बच जाना लोगों को चुपचाप उसकी ओर खींचने लगा। बिना प्रयास या प्रदर्शन के वह स्नेह, देखभाल और ध्यान का केंद्र बन गया। इसके माध्यम से आध्यात्मिक संस्कार उसमें स्वाभाविक रूप से और पूर्णतः इकट्ठा हुए–शिक्षा से नहीं, प्रेम में थामे जाने से। जीवित रहना ही उसका शिक्षक बन गया। जिसे अन्य लोग संयोग या सौभाग्य कहते, वही उसके लिए योग के कठोर यम-नियमों की तरह काम करता– अनुशासन, जो चयन से नहीं, जीवन द्वारा आरोपित था।

और गहरे अर्थ में, बाल प्रेमयोगी के चारों ओर की ये सीमाएँ उन सूक्ष्म दबावों की तरह थीं, जो जीवन प्रारंभ में ही डाल देता है–ठीक वैसे ही जैसे बाल-कृष्ण के जीवन में शकटासुर, बकासुर और धेनुकासुर जैसे दैत्य आते हैं। वे पहले भव्य युद्धों के रूप में नहीं आते; वे सामान्य खतरों, दुर्घटनाओं, अवरोधों और जीवन-रक्षा के संकटों के रूप में आते हैं। इसी प्रकार प्रेमयोगी के आसपास काम करने वाली शक्तियाँ सचेत शत्रु नहीं थीं, बल्कि स्थितियाँ थीं–रोग, नाज़ुकता, कठोर परिवेश, अनिश्चितता और प्रणालीगत जकड़न–जो किसी कमजोर जीवन को कुचल सकती थीं। हर चुनौती मानो जीवनी-शक्ति को ही परख रही थी। फिर भी, जैसे कृष्ण के बाल्यकाल के दैत्य जानबूझकर युद्ध से नहीं, बल्कि सहज उपस्थिति से गिरते हैं, वैसे ही ये बंधन केवल इसलिए घुलते चले गए क्योंकि जीवन उसमें बहता रहा।

वे रणनीति या प्रतिरोध से नहीं जीते गए। वे जीए गए। इस प्रकार जो आगे चलकर शक्ति दिखी, वह अर्जित नहीं की गई थी; वह प्रकट हुई थी। बाधाओं ने उसे गढ़ा नहीं; उन्होंने केवल यह प्रमाणित किया कि भीतर क्या पहले से स्थिर था।

तीन वर्ष की आयु में प्रेमयोगी को अपने दादा के एक यजमान परिवार के साथ लंबी तीर्थयात्रा–तीन धाम यात्रा–पर ले जाया गया। उसे छोड़ने के लिए कोई नहीं था। उस समय ट्रेनों में आरक्षण या स्लीपर नहीं होते थे–केवल भीड़भाड़ वाले जनरल डिब्बे, लोग फर्श और गोद में बैठे हुए, सुविधाओं के बिना लंबी यात्राएँ। उसके पिता को टायफॉइड हुआ और वे धीरे-धीरे स्वस्थ हुए। प्रेमयोगी भी बीमार पड़ा और स्वस्थ हुआ–शायद प्रारंभिक एंटीबायोटिक्स से, शायद आयुर्वेद से। तब प्रदूषण कम था; सहनशीलता अधिक।

यह सब तप था–योगिक तपस्या–अनुशासन या चयन से नहीं, बल्कि जीवन की परिस्थितियों से स्वाभाविक रूप से जिया गया। कोई व्रत नहीं थे, कोई सचेत त्याग नहीं, कोई जानबूझकर अभ्यास नहीं। जीवन ने ही संयम, सहनशीलता और छोड़ने की व्यवस्था कर दी थी। जो आगे

चलकर आध्यात्मिक प्रयास लगता है, वह पहले ही अनजाने में समा चुका था—आवश्यकता से आकार पाकर, इरादे से नहीं।

द्वारका के कृष्ण मंदिर में वह लंबे समय तक द्वारकाधीश की मूर्ति के चारों ओर घूमता रहा। उसके छोटे हाथ अंजलि में बँधे थे, पास के तट से लाए गए सीपियों और घोंघों के टुकड़ों से बार-बार भरते जाते। हर परिक्रमा में वह उन्हें धीरे से देवता के चरणों में उँडेल देता। उसके होंठ लगातार हिलते रहते, कुछ बुदबुदाते हुए, जिसे केवल वह जानता था। न कोई निर्देश था, न कोई प्रेरणा, न कोई मार्गदर्शन। भक्ति स्वयं बह रही थी—सरल, तन्मय और शांत आनंद से भरी हुई। पास ही दो पश्चिमी बच्चे खड़े थे, जिज्ञासा और विस्मय से उसे देखते हुए, किसी अनाम आकर्षण से खिंचे हुए। यहाँ तक कि मंदिर का पुजारी भी ठहर गया, कुछ देर देखता रहा, और फिर मुस्कराया। उसने बच्चे की भक्ति की प्रशंसा की और धीरे से कहा कि यही वास्तविक भक्ति है।

यह भी योग था—भक्ति योग—बिना प्रयास के मन में प्रवेश करता हुआ। संस्कार की एक और परत चुपचाप रोपी गई—शिक्षा से नहीं, बल्कि जीए हुए तादात्म्य से। शायद उस मौन आशीर्वाद के साथ, या शायद केवल पक चुकी प्रवृत्तियों के कारण, वह आगे चलकर कृष्ण-सदृश जीवन जीया—खेलपूर्ण, विरक्त, भीतर से भक्त और बाहर से साधारण।

एक बार वह भटक गया और बाद में नदी-घाट के पास एक छोटे से गड्ढे में आनंद से नहाता मिला—संतुष्ट, तन्मय, निडर—जैसे पानी में बैठा मेंढक। एक अन्य अवसर पर उसके पिता ने उसे कुछ देर के लिए कुएँ के पास छोड़ दिया। वह एक इंच भी नहीं हिला। यदि वह आगे बढ़ता, तो डूब जाता। यह भी योग था—नामहीन। गड्ढा मूलाधार का प्रतिबिंब था—गहराई, धारण और आधार। उसमें पानी स्वयं ऊर्जा था। अपने शिशु हाथों से बार-बार शरीर को उसमें डुबोना और सिर पर पानी डालना, ऊर्जा को बिना बल या भय के कोमल चक्रों में उठने-गिरने देने जैसा था। इस गति से गहरी सहजता, देह का गहन विश्राम और शांत आनंद उत्पन्न होता था, जिसकी छाप स्मृति में बहुत बाद तक बनी रही। तब भी, बिना समझे, शरीर जानता था कि कौन-सी गहराइयाँ सुरक्षित हैं और कौन-सी नहीं।

एक बार वह शौच के दौरान एक गड्ढे में गिर गया। वह भय से रो पड़ा। उसके पिता ने उसे बाहर निकाला, अच्छी तरह नहलाया। वह नरकीय गड्ढा एक सूक्ष्म छाप छोड़ गया—जो आगे चलकर उन क्षणों में उभरी, जब जीवन स्वयं संकट में लगता था। फिर भी वह गड्ढा उथला था। वह फिर बच गया। गड्ढों की निकटता उसके साथ बनी रही—आकर्षण नहीं, परिचय। आधार परिचित भूभाग था।

गया घाट पर उसने एक स्त्री को पालकी में हँसते-खेलते जाते देखा—आभूषणों, फूलों, सिंदूर और बिंदी से सजी, आँखें खुली, चेहरा जीवंत। उसने सोचा, वह जीवित है। वह नहीं थी। वह

एक सुहागिन थी, जिसकी मृत्यु के बाद अंतिम संस्कार के लिए सम्मानपूर्वक ले जाया जा रहा था, क्योंकि वह विधवा हुए बिना मरी थी। उसका चेहरा उसके भीतर हल्के, सूक्ष्म रूप से ठहर गया। वर्षों बाद, जब लीना आई–उपस्थिति में जीवित, पर दूरी में; दीप्तिमान, पर अप्राप्य–मानो वही पुरानी छवि फिर उभर आई। जीवित, पर स्वामित्व के लिए नहीं। दशकों के पार धागे चुपचाप जुड़ते चले गए।

यही योग का चलन है–निर्देशों से नहीं, संस्कारों से। हर घटना, हर हानि, हर स्थानांतरण पहले से ही ऐसी मनोभूमि गढ़ रहा था, जो न चिपकेगी, न जल्दबाज़ी करेगी, न ढहेगी। जैसे कृष्ण के जीवन की हर लीला के नीचे एक मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक पाठ छिपा होता है, वैसे ही प्रेमयोगी के प्रारंभिक जीवन में भी प्रशिक्षण बिना इरादे के उपस्थित था।

भारत की आध्यात्मिक संस्कृति मनोरंजन नहीं है। वह पीढ़ियों पर चढ़ी हुई जीयी हुई मनोविज्ञान है। जब प्रेमयोगी ने आगे चलकर रस, भक्ति, कुंडलिनी या अद्वैत का सामना किया, तब मिट्टी पहले से तैयार थी। कुछ भी अचानक नहीं आया। सब कुछ समय आने पर खुला।

योगी बनाया नहीं गया था।
वह स्मरण किया गया था।

और वह स्मरण उसके अपने नाम जानने से बहुत पहले आरंभ हो चुका था।

सनातन धर्म - जीया हुआ अनुभव
खंड द्वितीय: कृष्ण जीवन
पुस्तक : भाग दो
रस – जब जागरूकता ने स्वाद लेना सीखा
प्रेमयोगी वज्र

विषयसूची :

अध्याय 1: **रस का जागरण**
अध्याय 2: **रस-विहीन नगर**
अध्याय 3: **पाठ्यक्रम के स्थान पर जीवन से सीखना**
अध्याय 4: **रस का ठहरना सीखना**
अध्याय 5: **स्पर्श के बिना प्रेम – जब रस योग बनता है**

अध्याय 1

रस का जागरण

यह अध्याय उस क्षण को चिह्नित करता है जब प्रेमयोगी का आंतरिक जीवन चुपचाप अपनी भाषा बदलने लगता है। बाल्यावस्था का खेल न तो समाप्त होता है और न ही अस्वीकार किया जाता है; वह परिष्कृत हो जाता है। जो पहले शरारत के रूप में बहता था, वही अब संवेदनशीलता बनकर प्रवाहित होने लगता है। जो पहले स्वतंत्रता के रूप में बाहर फूटता था, वही अब स्वाद बनकर भीतर सिमटने लगता है। यह अध्याय रस को कृष्ण-जीवन के दूसरे द्वार के रूप में स्थापित करता है—जहाँ चेतना अब बल, विद्रोह या संघर्ष से नहीं, बल्कि आकर्षण, समयबोध और सूक्ष्म सम्मोहन से सीखती है। यहीं से चेतना पहली बार जीवन को गहराई से महसूस करना सीखती है।

किशोरावस्था की दहलीज़ पार करते ही प्रेमयोगी के भीतर कुछ ऐसा कोमल हुआ जो दुर्बल नहीं था। शरीर अभी भी चलता था, पर गति में माप आ गया था। हँसी बनी रही, पर उसमें शोर के स्थान पर लय आ गई। बचपन की उग्र स्वतंत्रता एक शांत शक्ति में परिपक्व हो गई—लगभग अदृश्य, किंतु पहले से कहीं अधिक प्रभावशाली। यह न तो कामना थी, न अवज्ञा, न ही इंद्रियों की अशांत भूख। यह रस था—जीवन का स्वाद, जो भीतर से जाग रहा था।

रस संवेदनशीलता है। यह वह क्षण है जब चेतना केवल सौंदर्य को देखती नहीं, उसे महसूस करने लगती है। ध्वनि गहरी हो जाती है। हाव-भाव अर्थ से भर जाते हैं। उपस्थिति स्वयं बिना प्रयास के नशीली हो जाती है। प्रेमयोगी इस शब्द को नहीं जानता था, पर उसका शरीर इसे पूर्णतः जानता था। उसकी चाल आलस्य से नहीं, बल्कि सजगता से धीमी हो गई। उसकी वाणी भय से नहीं, बल्कि लय से कोमल हो गई। उसकी आँखें ठहरना सीख गईं और उसका हृदय सुनना सीख गया। बिना जाने, वह कृष्ण-जीवन के पहले द्वार में प्रवेश कर चुका था—जहाँ चेतना संघर्ष से नहीं, आकर्षण से सीखती है।

कुंडलिनी की भाषा में, यह ऊर्जा का परिष्करण था। जो शक्ति पहले बाहर की ओर दौड़ती थी, उसने अब भीतर घूमना सीख लिया। क्रिया में फूटने के स्थान पर वह उपस्थिति में कंपन करने लगी। ऊर्जा अब शोर नहीं थी; वह चुंबकीय हो गई थी।

किन्तु बाहरी संसार उसी सामंजस्य से नहीं चल रहा था।

प्रेमयोगी को एक भीड़भाड़ वाले नगर के विद्यालय में भेज दिया गया—शोर से भरा, सीमा से अधिक भरा हुआ। प्रवेश आधिकारिक रूप से बंद थे, क्योंकि विद्यालय अपनी क्षमता से बहुत आगे निकल चुका था, फिर भी नियति ने अपने ही नियम मोड़ दिए। एक विधायक की

संस्तुति से विशेष अनुमति आई और प्रेमयोगी ऐसे प्रवेश कर गया मानो भाग्य के पिछले दरवाज़े से। वह नहीं जानता था कि यही मार्ग आगे चलकर भ्रम का एक लंबा गलियारा बन जाएगा। उसके माता-पिता ने आशा के साथ उसे वहाँ भेजा, यह मानकर कि नगर उसका भविष्य गढ़ेगा।

वह कंप्यूटर विज्ञान चुनना चाहता था, यह विश्वास करते हुए कि आधुनिक ज्ञान ही सफलता की कुंजी है। पर गणित उसके सामने बंद द्वार की तरह खड़ा हो गया। दसवीं कक्षा में एक कंपार्टमेंट चुपचाप आ गया—बिना नाटक के—पर उसने सब कुछ बदल दिया। उसी एक दरार के कारण उसे न तो कंप्यूटर विज्ञान मिला, न ही नॉन-मेडिकल विज्ञान। व्यवस्था ने कोई संवाद नहीं किया; उसने केवल दिशा बदल दी।

योगिक दृष्टि से यह असफलता नहीं थी, बल्कि प्रकृति और संरचना के बीच प्रतिरोध था। उसकी बुद्धि संवेदनशीलता, प्रत्यक्ष अनुभव और जीवित जागरूकता के माध्यम से चलती थी, जबकि प्रणाली रैखिक सटीकता और यांत्रिक निरंतरता माँगती थी। ऊर्जा ने ऐसे मार्ग से बहने से इंकार कर दिया जो उसके स्वभाव से मेल नहीं खाता था।

उस वर्ष प्रवेश अव्यवस्थित थे। विद्यालय अत्यधिक भरा हुआ था। शिक्षक थके हुए थे, कक्षाएँ खचाखच भरी थीं, और खीझ अक्सर दोषारोपण में बदल जाती थी—कभी जनसंख्या पर, कभी अभिभावकों पर, कभी भाग्य पर। उस दबाव में नियम कठोर हो गए। धाराएँ बंद कर दी गईं। द्वार जल्दी-जल्दी बंद होते चले गए।

उसी समय एक संवेदनशील जीवविज्ञान की अध्यापिका ने उसे देख लिया। अंकों के कारण नहीं, प्रदर्शन के कारण नहीं, बल्कि इसलिए कि उसे व्यवधानों के नीचे कुछ साबुत दिखाई दिया। जीवविज्ञान में गणित नहीं था, और उत्साह से नहीं, बल्कि संयम के साथ, उसने उसे उस धारा में प्रवेश दे दिया। यह अकादमिक से अधिक मानवीय निर्णय था।

जब तक वह वहाँ पहुँचा, तब तक उसकी रुचि पुस्तकों से हटने लगी थी। वह पिछली बेंच पर बैठने लगा—विद्रोह से नहीं, बल्कि शांत विरक्ति से। वह बाज़ारों में भटकता, पार्कों में ठहरता, बिना जल्दी के सड़कों पर चलता, और पन्नों के स्थान पर लोगों को देखता। चेहरे, हाव-भाव, मनोदशाएँ, स्वर, ठहराव—यही उसका पाठ्यक्रम बन गए। सूत्र फिसलते चले गए, पर जीवन स्वयं उसे सीधे सिखाने लगा।

जो बाहर से शैक्षणिक गिरावट लगती थी, भीतर से वह पुनर्निर्देशन था। व्यवस्था उसकी बुद्धि को पढ़ नहीं सकी, पर अस्तित्व पढ़ सका। और अस्तित्व ने अपना पाठ्यक्रम आरंभ कर दिया।

नगर उसका कक्षा-कक्ष बन गया।

वह सूत्रों के स्थान पर चेहरे पढ़ने लगा, ग्राफ़ के स्थान पर हाव-भाव, मापों के स्थान पर मनोदशाएँ। उसने देखा कि मनुष्य बिना शब्दों के कैसे बोलते हैं, आकर्षण पहचान से पहले कैसे चलता है, और किसी के आने-जाने से ऊर्जा कैसे बदलती है। समीकरण दूर होते गए, पर जीवन स्वयं उसे सिखाता रहा।

एक बार, इसी भूमि पर, एक क्रोधित शिक्षक ने उसे बुरी तरह पीटा—हल्के से नहीं, वास्तविक क्रोध के साथ। प्रहार गहरे चुभे, पर भीतर कुछ टूटा नहीं। शरीर ने पीड़ा झेली; जागरूकता बनी रही। वह किसी तरह पास हो गया, पर भौतिकी फिर लौटी—एक और कंपार्टमेंट के रूप में—मानो जीवन निश्चयपूर्वक एक द्वार बंद कर रहा हो ताकि दूसरा संदेह के बिना खुल सके।

यह चरण सहनशीलता का प्रशिक्षण था। कुंडलिनी के रूपक में, यह अवरुद्ध केंद्र पर दबाव का निर्माण था—दंड के लिए नहीं, प्रवाह को मोड़ने के लिए।

मोड़ चुपचाप आया, उसकी बड़ी बहन की सहायता से। अगले वर्ष दोनों ने विद्यालय बदल लिया—भीड़भाड़ वाले नगर को छोड़कर एक सुंदर पहाड़ी कस्बे में प्रवेश किया—आदर्श, स्वच्छ, सुव्यवस्थित, और एक छोटे सैन्य दल द्वारा संरक्षित। वहाँ अनुशासन हवा में था, और अव्यवस्था को छिपने की जगह नहीं थी। सड़कें शांत थीं। वृक्ष सजग खड़े थे। आकाश हाथ बढ़ाने भर की दूरी पर लगता था।

जब प्रेमयोगी वहाँ पहुँचा, भीतर कुछ प्राचीन जाग उठा। उसे लगा जैसे कोई भूला हुआ प्रदेश फिर से मिल गया हो, मानो धरती ही उसे पहचानती हो। विद्यार्थी कम थे, लोग सरल थे, और आसपास के गाँवों की साँसों में मिट्टी बसी थी। बाज़ारों और पार्कों में भटकने वाला वह आधा-कृष्ण बिना संदेह, बिना शोर, बिना प्रतिस्पर्धा के स्वीकार कर लिया गया। वर्षों बाद पहली बार उसे फिर से अपनापन महसूस हुआ।

यहीं रस पूर्ण रूप से खिला।

और यहीं कृष्ण का दूसरा आधा प्रकट हुआ।

वह न प्रेमिका थी, न मित्र, न किसी सामान्य अर्थ में संगिनी। वह मीठी वाणी वाली, शरारती लड़की थी—मोहन की तरह चंचल, पर हवा की तरह कोमल। यदि मोहन ने प्रेमयोगी को उन्मुक्तता दी थी, तो उसने उसे कोमलता दी। उसकी हँसी में हल्कापन था। उसकी उपस्थिति में सहजता थी। वही अगोचर आकर्षण अब स्त्री-रूप में बहने लगा था।

उनके बीच जो घटित हुआ, वह संसार की समझ का रोमांस नहीं था, बल्कि उससे कहीं अधिक सूक्ष्म और गहरा—स्पर्श के बिना प्रेम। वे कभी एक-दूसरे को घूरते नहीं थे। सीधे बात नहीं करते थे। छूते नहीं थे। अक्सर पास भी नहीं खड़े होते थे, फिर भी सब कुछ घटता था।

एक क्षणिक दृष्टि पूरे दिन को बदल सकती थी। दूर से सुनी गई उसकी हँसी उसके वक्ष को कोमल कर देती थी। एक ही कक्ष में उसकी उपस्थिति उसके कदमों को बिना जाने धीमा कर देती थी। उनके मार्ग बिना टकराए एक-दूसरे को छूते थे। क्षण बिना बाहरी क्रिया के फैल जाते थे।

यह रस का शुद्धतम रूप था—स्वामित्व नहीं, कंपन के रूप में प्रेम।

आकर्षण ने जागरूकता को इतनी सूक्ष्मता तक तेज कर दिया कि मौन भी संवाद बन गया। वे समय, अनुपस्थिति, संयम और गति के माध्यम से बात करते थे। हृदय धुआँ उठाए बिना जलना सीख रहा था।

कुंडलिनी की भाषा में, यह बिना घर्षण के ऊर्जा का आरोहण था। कामना आई, पर उसने खाया नहीं; उसने परिष्कृत किया। धारा ऊपर की ओर कोमलता से चली, चेतना को बिखेरने के बजाय चमकाती हुई।

प्रेमयोगी को फिर से प्रशिक्षित किया जा रहा था—जैसे बचपन में हुआ था—पर अब शरारत के स्थान पर सौंदर्य से, स्वतंत्रता के स्थान पर तृष्णा से, और ऐसी निकटता से जो दूरी को कभी बंद नहीं करती। यह कृष्ण-जीवन का दूसरा द्वार था—जहाँ प्रेम आता है पर बाँधता नहीं, जहाँ इच्छा उठती है पर शुद्ध करती है, और जहाँ आकर्षण फंदा नहीं, योग का उपकरण बन जाता है।

वह तब यह नहीं जानता था, पर यह चरण उसके अस्तित्व में सबसे गहरी नाली काट रहा था। यह उसे उस भविष्य के लिए तैयार कर रहा था जहाँ ऊर्जा प्रबल रूप से उठेगी, मन विलीन होगा, और सुख आनंद में रूपांतरित होगा। योग की अग्नि से पहले रस की सुगंध आवश्यक थी।

और इसलिए यह अध्याय न मिलन पर समाप्त होता है, न वियोग पर, बल्कि एक कंपन करती स्थिरता पर—जहाँ दो प्राणी तारों की तरह एक-दूसरे की परिक्रमा करते हैं, कभी टकराते नहीं, पर सदा एक-दूसरे के गुरुत्व को आकार देते रहते हैं।

बालक सजग हो चुका था।
जागरूकता स्वाद बन चुकी थी।
और स्वाद जागरण का द्वार बन गया था।

अध्याय 2
रस-विहीन नगर

यद्यपि यह अध्याय देखने में पिछले अध्याय की पुनरावृत्ति जैसा लग सकता है, वास्तव में ऐसा नहीं है। यह उसी आधार पर आगे बढ़ता है, ताकि बात को अधिक स्पष्ट और विस्तार से समझाया जा सके।

जब प्रेमयोगी नगर में प्रवेश कर चुका था, तब तक उसके भीतर कुछ सूक्ष्म पहले ही आकार ले चुका था। रस भीतर धीमे-धीमे बोलना शुरू कर चुका था—गति को परिष्कृत करता हुआ, वाणी को धीमा करता हुआ, और ध्यान को तीक्ष्ण बनाता हुआ। उसने इसका नाम नहीं जाना था, पर उसकी उपस्थिति स्पष्ट थी। संवेदनशीलता जाग चुकी थी; अब उसकी परीक्षा होने वाली थी।

जो ऊर्जा बाल-कृष्ण अवस्था में स्वतंत्र रूप से खर्च होती रही थी, वही ऊर्जा अब संकुचित, गैर-ग्रामीण शहरी जीवन के कारण भीतर एकत्र होने लगी। यह संचित ऊर्जा धीरे-धीरे उसकी संवेदनशीलता को और तीव्र करती चली गई।

नगर ने उसे ग्रहण नहीं किया।

सबसे पहले शोर ने स्वयं को घोषित किया—निरंतर, परत-दर-परत, बिना रुके। घंटियाँ तीखी आवाज़ में बजती थीं। कदम एक-दूसरे से टकराते थे। आवाज़ें बिना सुने एक-दूसरे पर चढ़ जाती थीं। गलियारे संकरे थे, कक्षाएँ भरी हुई थीं, और समय को कठोर खंडों में काट दिया गया था। कुछ भी इतना देर तक नहीं ठहरता था कि महसूस किया जा सके।

प्रेमयोगी के शरीर ने इसे तुरंत पहचान लिया। श्वास छोटी हो गई। गति किफ़ायती हो गई। यह भय नहीं था, बल्कि संपीड़न था। पहाड़ियों में स्थान के भीतर विराम होते थे। यहाँ स्थान ही खा लिया गया था।

प्रवेश आधिकारिक रूप से बंद थे; विद्यालय अपनी सीमा बहुत पहले पार कर चुका था। फिर भी नियम चुपचाप झुक गए। राजनीतिक अनुशंसा से विशेष अनुमति आई, और प्रेमयोगी ऐसे भीतर आया मानो किसी पार्श्व द्वार से। उस समय यह सौभाग्य लगा। बाद में यही अवसर गलत स्थान जैसा प्रतीत हुआ।

उसके माता-पिता नगर में आशा लेकर आए थे। वे मानते थे कि यह अनुभव उसे सुदृढ़ बनाएगा, उसका भविष्य तेज करेगा, और आधुनिक संसार के लिए तैयार करेगा। प्रेमयोगी ने इसका विरोध नहीं किया। उसने कंप्यूटर विज्ञान चुना—संरचना, तर्क और तकनीक पर भरोसा करते हुए। योग भी अपने मूल में पूर्णतः वैज्ञानिक, तार्किक और तकनीकी ही है।

कुंडलिनी योग में भी सच्चा गुरु या उपयुक्त आश्रम सहजता से नहीं मिलता। अनेक परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है। जिनके लक्ष्य छोटे होते हैं, वे बाधाएँ आते ही बीच मार्ग से लौट जाते हैं। पर जिनकी दृढ़ता स्थिर होती है, वे एक-एक अवरोध हटाते हुए आगे बढ़ते रहते हैं। प्रेमयोगी और उसका परिवार कोमल दृढ़ता वाला नहीं था। उनका दृष्टिकोण स्पष्ट था–पूरे प्रयास से सर्वोत्तम गुणवत्ता की ओर बढ़ो, और केवल तब, जब कुछ वास्तव में असंभव सिद्ध हो जाए, धीरे-धीरे नीचे उतरो; भय से कभी पीछे मत हटो।

यही दृष्टिकोण उसकी शैक्षणिक यात्रा में भी स्पष्ट दिखा। जब कंप्यूटर विज्ञान नहीं चला, तो नॉन-मेडिकल आज़माया गया। जब नॉन-मेडिकल विफल हुआ, तो मेडिकल की ओर रुख किया गया। जब विद्यालय प्रशासन तैयार नहीं हुआ, तो विधायक की अनुशंसा ली गई। कहीं भी पलायन नहीं था–केवल निरंतर समायोजन था।

बहुत बाद में प्रेमयोगी ने समझा कि यह दिशा-परिवर्तन कितना सौभाग्यपूर्ण था। उस समय अनेक विद्यार्थी, जिन्होंने दो पूरे वर्ष कंप्यूटर विज्ञान पढ़ा था, आगे की पढ़ाई के स्पष्ट मार्ग के बिना अटक गए थे। जीवविज्ञान, जो उस समय एक समझौता लगा था, वास्तव में वरदान सिद्ध हुआ। वह उसके दार्शनिक स्वभाव, योगिक संवेदनशीलता और चेतना में बढ़ती रुचि से गहरे मेल खाता था। आगे चलकर यही उसकी पशु-चिकित्सा स्नातक पढ़ाई के दौरान विकसित हुई **शरीर-विज्ञान दर्शन** की आधारशिला बना।

सबसे आश्चर्यजनक यह था कि भौतिकतावादी विश्वविद्यालय वातावरण के भीतर ही दर्शन का उदय हुआ। उसी परिवेश से उसने एक बीज-अध्याय लिखा–एक प्रारंभिक दार्शनिक समन्वय–जो अप्रत्याशित रूप से विश्वविद्यालय पत्रिका में प्रकाशित हो गया। प्रकाशन के साथ ही कुछ बदल गया। उसने अपने भीतर और साथियों की दृष्टि में सूक्ष्म परिवर्तन देखा। उनकी सोच संकीर्ण सकारात्मकता या नकारात्मकता से हटकर जीवन की अधिक समग्र समझ की ओर झुकने लगी, और उसके भीतर आत्मविश्वास गहराने लगा।

ऐसा प्रतीत हुआ कि यह अंतर उनमें प्रारंभिक जीवन से ही आध्यात्मिक संस्कारों की सापेक्ष कमी के कारण था। यह नहीं कि उनमें ऐसे संस्कार बिल्कुल नहीं थे, पर वे भौतिक और इंद्रिय-प्रधान जीवन के आकर्षण का प्रतिरोध करने के लिए पर्याप्त सशक्त नहीं थे। इसलिए जब प्रलोभन आया, उनकी आंतरिक स्थिरता उतनी दृढ़ नहीं रही जितनी प्रेमयोगी की।

इसी कारण, जब पहली बार उन्हें प्रेमयोगी का अद्वैत पर आधारित बीज-अध्याय मिला, तो अनेक को तत्काल राहत का अनुभव हुआ। उनके भीतर जो कुछ अनसुलझा था, उसे अचानक भाषा और दिशा मिल गई।

विडंबना यह थी कि उनमें से कई लोग स्वयं प्रेमयोगी से भी अधिक कच्ची प्रकृति के निकट पले थे–ऊँचे पर्वतों, घने वनों और हिमाच्छादित क्षेत्रों में। फिर भी, समान गहराई वाले आंतरिक संस्कारों के बिना, बाहरी प्रकृति अकेले पर्याप्त सिद्ध नहीं हुई थी। इसलिए आरंभ में प्रेमयोगी का उनसे पूरी तरह घुलना-मिलना स्वाभाविक रूप से कठिन रहा। संभवतः उनकी संवेदनशीलता नगर-केन्द्रित भौतिकता और बाहरी भोग की ओर मुड़ गई थी।

पर बीज-अध्याय के संपर्क के बाद एक सूक्ष्म परिवर्तन दिखाई देने लगा। उनके भीतर उसकी ओर अनुरूपता बढ़ी। पूर्ण नहीं, पर वास्तविक। कुछ सुप्त था जो प्रतिक्रिया देने लगा था।

वह अध्याय स्वयं प्रेमयोगी के लिए भी एक जीवित ग्रंथ बन गया। निरंतर चिंतन, दैनिक व्यावसायिक जीवन में प्रयोग, और अंततः कुंडलिनी-जागरण तथा आत्म-साक्षात्कार तक उसकी पुष्टि होते-होते, वही विचार धीरे-धीरे एक पूर्ण दर्शन में विस्तृत हो गया। जो प्रयोगात्मक अभिव्यक्ति के रूप में शुरू हुआ था, वह परीक्षित ढाँचे में बदल गया।

यह एक सफल परीक्षण उड़ान जैसा था–शांत, विनम्र, पर निर्णायक–जिसने आगे चलकर पूर्ण प्रक्षेपण का मार्ग साफ़ कर दिया।

गणित उसके सामने चुनौती की तरह नहीं, अस्वीकृति की तरह आया। संख्याएँ बिना कथा के दी जाती थीं, सूत्र बिना लय के, चिह्न बिना निरंतरता के। हर प्रश्न अलग-थलग खड़ा रहता था। उसका मन विद्रोह नहीं करता था; वह बस जुड़ नहीं पाता था। जहाँ अर्थ अनुपस्थित था, वहाँ जागरूकता चुपचाप पीछे हट जाती थी।

दसवीं कक्षा में पहला कंपार्टमेंट इसी तरह आया–शांत, पर निर्णायक। न विरोध हुआ, न क्रोध –केवल भीतर की स्पष्ट पहचान कि कुछ मेल नहीं खा रहा है। इसी गणितीय कंपार्टमेंट के कारण नॉन-मेडिकल का विकल्प भी बंद हो गया। जो द्वार दबाव को कम कर सकता था, वही अस्वीकार कर दिया गया।

सीमित विकल्पों के साथ, और कई संस्थानों की हिचक के बाद, अंततः उसे जीवविज्ञान धारा में प्रवेश मिला–मुख्यतः इसलिए कि उसमें गणित नहीं था। यह प्रवेश भी सहज नहीं था; अनेक विद्यालयों को भय था कि भौतिकी में भी गणितीय समीकरण होंगे। केवल एक विद्यालय तैयार हुआ।

क्षण भर को यह राहत जैसा लगा। पर गणित ने पूरी तरह पीछा नहीं छोड़ा था। ग्यारहवीं में भौतिकी फिर परीक्षा बनकर लौटी–भिन्न रूप में, पर वही संरचना लिए। एक और कंपार्टमेंट आया–अक्षमता से नहीं, बल्कि उसी विधि और जागरूकता के असंगत मेल के कारण।

शिक्षकों ने कमी देखी। अभिलेखों ने असफलता दर्ज की। प्रणाली कुशलता से आगे बढ़ती रही, इस महत्वपूर्ण अंतर को समझे बिना कि असमर्थता और असंगति में भेद होता है। जो ऊर्जा कठोर मार्गों से बह नहीं पाई, उसे दुर्बलता कहा गया, जबकि ऊर्जा स्वयं पूर्ण थी।

योगिक भाषा में, ऊर्जा ऐसे मार्ग पर पहुँच गई थी जो उसे वहन नहीं कर सकता था—ऊर्जा के दुर्बल होने के कारण नहीं, बल्कि मार्ग के कठोर होने के कारण।

उसने प्रणाली से युद्ध नहीं किया। वह धीरे-धीरे पीछे हट गया।

पुस्तकों की तात्कालिकता खो गई। बेंचें और पीछे खिसक गईं। ध्यान बाहर की ओर भटकने लगा—सड़कों, बाज़ारों, उद्यानों और गुजरती भीड़ की ओर। वह बिना उद्देश्य के चलता रहता। नगर अनजाने में उसे कुछ और सिखाने लगा।

उसने चेहरों को देखा। उसने जाना कि शब्द आने से पहले मनोदशाएँ कैसे बदलती हैं, आत्मविश्वास देह-भंगिमा को कैसे बदल देता है, और आकर्षण कैसे चुपचाप अंतरिक्ष में प्रवाहित होता है। लोग लगातार बोलते थे, पर अधिकांश संवाद वाणी से पहले ही हो जाता था।

नगर ने उसकी भागीदारी अस्वीकार की, पर उसकी दृष्टि को प्रशिक्षित किया।

एक बार, इसी काल में, एक शिक्षक ने नियंत्रण खो दिया। क्रोध क्रिया में बदल गया। प्रेमयोगी को पीटा गया—प्रतीकात्मक नहीं, बल्कि वास्तविक बल से। पीड़ा तीव्र थी। शरीर ने प्रतिक्रिया दी। पर जागरूकता नहीं टूटी। वह उपस्थित रही, संवेदना को उठते-गिरते देखती हुई।

क्षण बीत गया, पर उसकी छाप रह गई। शरीर ने सहनशीलता सीखी। मन ने अनासक्ति सीखी। जागरूकता ने दबाव में भी अक्षुण्ण रहना सीखा।

यह भी योग था—यद्यपि किसी ने इसे ऐसा नहीं कहा। यह बलपूर्वक योग था। नगर में पैरों के भटकने से बिखरी ऊर्जा, मिठाइयों के सेवन से पेट में गई ऊर्जा, और हृदय में सौंदर्य के निरंतर स्वाद से खर्च हुई ऊर्जा—वह सब उस ऊर्जा को कम कर चुकी थी जो अध्ययन और सीखने के लिए आज्ञा चक्र पर उपलब्ध होनी चाहिए थी। प्रणाली एकाग्रता चाहती थी, पर ऊर्जा फैल चुकी थी।

उस क्षण शिक्षक एक कठोर तांत्रिक गुरु की तरह कार्य कर गया—ऊर्जा को अचानक ऊपर मोड़ते हुए। झटका तीव्र, भारी और अनैच्छिक था। मन के प्रतिक्रिया देने से पहले शरीर ने

उसे झेला। इंद्रिय-गतियाँ थम गईं। ध्यान भीतर ढह गया। जो ऊर्जा गति, स्वाद और भाव में बिखरी थी, वह हिंसक रूप से ऊपरी केंद्रों में इकट्ठी हो गई।

प्रभाव स्पष्ट था। ऊष्मा ऊपर की ओर दौड़ी। ऊपरी देह तीव्र रूप से तप उठी, मानो किसी कठोर योगिक दबाव या निर्दय आंतरिक क्रिया से गुज़री हो। श्वास बदल गई। नासिका मार्ग से जल प्रवाहित हुआ—मानो अनाहूत, पर शुद्धिकारी जल-नेति—एक ही झटके में अवरुद्ध नाड़ियों को साफ़ करता हुआ।

जिसे लोग बाद में मारपीट कहते थे, वह दूसरी भाषा में ऊर्जा का असभ्य और खतरनाक पुनर्निर्देशन था। जागरूकता को साधा नहीं गया; उसे धकेला गया। आरोहण को परिष्कृत नहीं किया गया; उसे थोप दिया गया। क्षण भर के लिए बिखरी धाराएँ एकरेखित हुईं, और मन कठोर स्थिरता में प्रवेश कर गया।

बाद में प्रेमयोगी ने ऐसे तरीकों की शक्ति और जोखिम—दोनों को समझा। ऊर्जा को बल से ऊपर धकेला जा सकता है, पर कोमलता और एकीकरण के बिना उसकी कीमत भारी होती है। फिर भी, इस अनुभव ने भी एक छाप छोड़ी। इसने उसे अतिशयता के माध्यम से सिखाया कि योग बल के बिना जागरूकता के विरुद्ध चेतावनी क्यों देता है, और परिष्कार सदा बाध्यता से श्रेष्ठ क्यों है।

वह किसी तरह पास हो गया। भौतिकी फिर लौटी—एक और कंपार्टमेंट के रूप में—दृढ़ और अनम्य। इस बार यह अंतिम लगा। जीवन अब संवाद नहीं कर रहा था। एक द्वार पूरी तरह बंद हो रहा था।

मोड़ फिर चुपचाप आया—उसकी बड़ी बहन के माध्यम से। अगले वर्ष दोनों ने विद्यालय बदल लिया और भीड़भाड़ वाले नगर को पीछे छोड़ दिया। वे एक पहाड़ी कस्बे में आए—व्यवस्थित, स्वच्छ, आदर्श—जहाँ शोर नहीं, दिनचर्या सुरक्षा देती थी।

अंतर तत्काल था।

सड़कें शांत थीं। वृक्ष सजग खड़े थे। आकाश हाथ बढ़ाने भर की दूरी पर लगता था। ध्वनियों के बीच स्थान था, विचारों के बीच भी।

जैसे ही प्रेमयोगी वहाँ पहुँचा, भीतर कुछ स्थिर हो गया। उत्साह नहीं—पहचान। श्वास बिना प्रयास के गहरी हो गई।

विद्यार्थी कम थे। प्रतिस्पर्धा न्यूनतम थी। शिक्षक नाम जानते थे, केवल संख्याएँ नहीं। पास के गाँवों की साँसों में मिट्टी बसी थी। जीवन फिर मानवीय गति से चलने लगा।

यहाँ रस को स्वयं को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं थी। वह बस ठहर गया।

कुंडलिनी की भाषा में, ऊर्जा ने फिर से एक तटस्थ मार्ग पा लिया—न ऊपर चढ़ती हुई, न नीचे गिरती हुई, बल्कि स्थिर होती हुई। तंत्रिका-तंत्र ने उस क्षति की मरम्मत शुरू की जिसे संपीड़न ने पैदा किया था। नगर के विद्यालय में बलपूर्वक ऊपर धकेली गई ऊर्जा अब उच्च चक्रों में ठहरने लगी, पुस्तकों से कच्चा पोषण पाती हुई, और अनुकूल वातावरण तथा सहायक शिक्षकों के माध्यम से उसका संस्कार होता हुआ।

बहुत बाद में प्रेमयोगी ने समझा कि नगर ने उसे क्या सिखाया था। जो पहले जाग चुका था, उसे नष्ट नहीं किया जा सकता—केवल विलंबित किया जा सकता है। संवेदनशीलता उन संरचनाओं में नहीं खिलती जो केवल गति, पुनरावृत्ति और तुलना के लिए बनी हों।

नगर ने रस को कुचला नहीं था। उसने उसे पीछे हटने को बाध्य किया था।

और वह पीछे हटना बुद्धिमत्तापूर्ण था।

कृष्ण कथाओं में वहाँ नहीं रुकते जहाँ लय अनुपस्थित हो। वे आगे बढ़ते हैं—क्रोध में नहीं, अस्वीकृति में नहीं, बल्कि अनुरूपता में। ऐसे क्षणों में छोड़ना पलायन नहीं, विवेक होता है। इसी प्रकार योगियों ने सदा साधना के लिए विशेष स्थान चुने हैं—ऋषिकेश, हरिद्वार, वन, गुफाएँ, नदी-तट—क्योंकि स्थान का अंतर्निहित कंपन मायने रखता है। जब भूमि का कंपन साधक के कंपन से मेल खाता है, तो अनुरणन होता है, और ऊर्जा बिना प्रयास के बढ़ती है।

इसी कारण कुछ स्थान कुछ लोगों के लिए तुरंत सहायक लगते हैं, जबकि वही स्थान दूसरों के लिए तटस्थ या असुविधाजनक होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति एक विशिष्ट ऊर्जात्मक संरचना लेकर चलता है, जो प्रकृति, पालन-पोषण और आंतरिक विकास से बनी होती है। अनुरूपता तब होती है जब ये संरचनाएँ उपयुक्त परिवेश से मिलती हैं।

किन्तु जैसे-जैसे योग में प्रगति गहराती है, यह निर्भरता धीरे-धीरे समाप्त होने लगती है। पर्याप्त जागरण के बाद योगी अपने भीतर स्थिर योगिक कंपन धारण करने लगता है। उस अवस्था में, वह पहले से ही आध्यात्मिक तीव्रता वाले स्थानों में सहज अनुरूपता पा लेता है, क्योंकि वह व्यक्तिगत भिन्नताओं की सीमा पार कर सार्वभौमिक स्वभाव में प्रवेश कर चुका होता है। जो पहले बाहरी अनुरणन माँगता था, वह अब आंतरिक स्थिरता से उत्पन्न होने लगता है।

इस प्रकार प्रेमयोगी की गति आकस्मिक नहीं थी। वह उसी प्राचीन बुद्धि का अनुसरण कर रही थी—सुख की नहीं, सामंजस्य की खोज। जहाँ लय लौटी, वहाँ ऊर्जा बहने लगी। जहाँ लय

अनुपस्थित थी, वहाँ पीछे हटना स्वाभाविक हुआ। यह संसार का त्याग नहीं था, बल्कि यह सुनना था कि जीवन बिना प्रतिरोध के कहाँ खुल सकता है।

इस चरण के अंत तक प्रेमयोगी ने गलत स्थान को अपनी अक्षमता से भ्रमित करना छोड़ दिया। वह समझ चुका था कि उसकी बुद्धि संबंध, समय और संवेदन के माध्यम से चलती है –केवल यांत्रिक निष्पादन से नहीं।

नगर ने द्वार जानबूझकर बंद किए थे। और ऐसा करके, उसने जो मूल्यवान था, उसकी रक्षा की थी।

यहाँ रस नहीं खिला।

वह प्रतीक्षा में रहा।

अध्याय 3

पाठ्यक्रम के स्थान पर जीवन से सीखना

इस अवधि में प्रेमयोगी ने अनुशासन का एक अलग ही रूप खोजा–ऐसा अनुशासन जो अधिकार या बल से नहीं आया, बल्कि निरंतर सजगता से विकसित हुआ। पिछली बेंच पर बैठते हुए उसने बिना दिखाई दिए सतर्क रहना सीख लिया। उसने बिना प्रतिक्रिया दिए सुनना, बिना हस्तक्षेप किए देखना सीख लिया। धीरे-धीरे कक्षा एक प्रयोगशाला बन गई–विषयों की नहीं, बल्कि मनःस्थितियों की।

उसने देखा कि बेचैनी कैसे एक विद्यार्थी से दूसरे में कूदती है, परीक्षा से बहुत पहले ही भय कैसे चेहरों को जकड़ लेता है, और ऊब कैसे मन से पहले शरीर को सुस्त कर देती है। उसने यह भी देखा कि आत्मविश्वास प्रायः भीतर से नहीं, बल्कि कमरे के माहौल से उधार लिया जाता है। अधिकांश लोग सोच नहीं रहे थे; वे बस प्रवाह में बह रहे थे।

प्रेमयोगी परीक्षाओं के लिए नहीं पढ़ता था; वह आंतरिक स्पष्टता के लिए पढ़ता था। इसी कारण उसे कभी परीक्षाओं का भय नहीं रहा। उसका मानना था कि जो व्यक्ति ईमानदारी और गहराई से पढ़ता है, उसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं होती। केवल वही लोग परीक्षाओं से डरते हैं जो केवल अंक पाने के लिए सतही अध्ययन करते हैं। एक समय तो उसने बारहवीं की परीक्षा से भी पीछे हटने का निर्णय लिया, ताकि कक्षा में पढ़ाई पर अधिक ध्यान देकर समझ को गहरा किया जा सके। उसकी जीवविज्ञान की अध्यापिका और परिवार–दोनों ने इस निर्णय का समर्थन किया।

जब अन्य विद्यार्थी भय और दबाव में रटने में लगे थे, प्रेमयोगी शांति से वैज्ञानिक अवधारणाओं को समझ रहा था। उसे स्पष्टता, शांत आनंद और बढ़ता आत्मविश्वास अनुभव हो रहा था। सीखना तनाव नहीं, पोषण बन गया था। ज्ञान स्वाभाविक रूप से बैठता जा रहा था, थोपा नहीं जा रहा था।

यह दृष्टिकोण आगे चलकर उसके लिए अत्यंत सहायक सिद्ध हुआ। वह एक प्रवेश परीक्षा के माध्यम से पशु-चिकित्सा विज्ञान के एक उच्चस्तरीय संस्थान में चयनित हुआ–इसलिए नहीं कि उसने लक्ष्य बनाया था, बल्कि इसलिए कि तैयारी पहले ही गहरे स्तर पर हो चुकी थी। परिणाम अपने आप आ गया।

उसका लक्ष्य कभी साधारण अर्थों में सफलता नहीं रहा। उसका एकमात्र लक्ष्य मानव जीवन की पूर्णता था। शेष सब कुछ परिणामस्वरूप आता चला गया।

यह भी योग का एक पाठ था। वास्तविक सफलता—चाहे अध्ययन में हो या जागरण में—शीघ्र नहीं आती। इसके लिए धैर्य, ईमानदारी और वर्षों की निरंतर साधना चाहिए।

केवल तेज़ी से पढ़ने और अंक लाने के लिए किसी संदेह को अनसुलझा छोड़ देना, उसे स्वयं से धोखा देना लगता था। उसके आसपास अधिकांश विद्यार्थी तेज़ी से आगे बढ़ते थे—पन्नों और सूत्रों के बीच दौड़ते हुए—पर वह धीरे चलता था, हर अंश को पूरी तरह समझे बिना आगे बढ़ने से इंकार करता था।

उसके लिए दबा हुआ संदेह निरापद नहीं था। वह एक ग्रंथि था—अज्ञान की योगिक गाँठ। यदि उसे खोला न जाए, तो वह मन में जमी रहती है और सोच तथा अनुभूति को चुपचाप प्रभावित करती रहती है। ऐसी गाँठें रटने से नहीं खुलतीं; वे केवल पूर्ण और सटीक समझ से ही खुलती हैं। अन्यथा विषय तो निकल जाता है, पर भ्रम पीछे रह जाता है।

इस प्रकार अध्ययन स्वयं उसके लिए योग का एक अप्रत्यक्ष रूप बन गया।

हर स्पष्ट हुई अवधारणा एक छोटा तनाव मुक्त कर देती थी। हर सुलझा हुआ संदेह कुछ बँधी ऊर्जा को छोड़ देता था। सीखना संग्रह नहीं, सुलझाव था। जिसे अन्य लोग शैक्षणिक बोझ समझते थे, उसे वह क्रमशः भीतर हल्कापन बनते हुए अनुभव करता था।

उसके शिक्षक इस ईमानदारी को महसूस करते थे और उसका समर्थन करते थे। वे उसके प्रश्नों का धैर्य से उत्तर देते थे, भले ही उससे कक्षा की गति बाधित होती हो। वे समझते थे कि उसके प्रश्न दिखावे के लिए नहीं, बल्कि समझ के लिए हैं।

उसके सहपाठियों में एक विद्यार्थी—नकुल—विशेष रूप से उभरकर सामने आया। नकुल गहरा विश्लेषक भी था और तेज़ी से आगे बढ़ने वाला भी, जो जटिलता को शीघ्र समझ लेता था। इस गुण के लिए प्रेमयोगी उसका गहरा सम्मान करता था। उनकी बौद्धिक लय अच्छी थी, पर पूर्ण नहीं। नकुल में वह अद्वैत संस्कार नहीं थे, जो प्रेमयोगी में शांत रूप से उपस्थित थे।

इसी कारण समझ के बाद जो शांति आती थी, वह नकुल में टिकती नहीं थी। जैसे ही अज्ञान की गाँठ खुलती, खाली हुई जगह तुरंत फिर भर जाती—महत्वाकांक्षा, शोर, तुलना या बाहरी विक्षेप से। अंतर्दृष्टि आती थी, पर ठहरती नहीं थी।

प्रेमयोगी का अनुभव भिन्न था।

अद्वैत और वैराग्य पहले से भीतर स्थापित होने के कारण, समझ के बाद मन खाली रह पाता था। साफ़ हुई जगह साफ़ ही रहती थी। मौन असहज नहीं, पोषक बन जाता था। यह बनी हुई शांति एक स्थिर पृष्ठभूमि बन गई–ठोस, शांत और भरोसेमंद।

यह शांति जड़ता नहीं थी। यह सजग स्थिरता थी।

बाद में प्रेमयोगी ने पहचाना कि यह अवस्था उच्च योगिक साधनाओं के लिए अनिवार्य आधार है। इसके बिना ऊर्जा उठ तो सकती है, पर स्थिर नहीं रह सकती। इसके बिना अंतर्दृष्टि चमकती तो है, पर रूपांतरण नहीं करती। अद्वैत ने उसे न केवल समझने की, बल्कि बिना विचलन के समझ को धारण करने की क्षमता दी।

इस प्रकार अध्ययन–यदि बिना हड़बड़ी, बिना भय और बिना आत्म-छल के किया जाए–योग की एक शांत तैयारी बन गया।

इस अवलोकन ने उसके भीतर एक महत्वपूर्ण क्षमता को निखार दिया: गति के बीच स्थिर रहने की क्षमता।

दबाव के साथ पहले के अनुभवों ने उसके शरीर को सिखा दिया था कि जागरूकता झटके को सह सकती है। अब, बिना किसी बाहरी बल के, वह उसी स्थिरता को स्वेच्छा से धारण करना सीख रहा था। तंत्रिका-तंत्र को तीव्रता की स्मृति थी, पर मन ने कोमलता चुनी। ऊर्जा अब न बाहर बिखर रही थी, न परिस्थितियों द्वारा ऊपर धकेली जा रही थी; वह संयमित हो रही थी।

कुंडलिनी की भाषा में, यह एक सूक्ष्म योग था। ऊर्जा न क्रिया में फूट रही थी, न अचानक ऊपर धकेली जा रही थी। वह शांत रूप से संचित और प्रवाहित हो रही थी। आवेग उठते और अपने आप विलीन हो जाते थे। जागरूकता बिना पकड़ के उपस्थित रहती थी।

अक्सर वह पूरे पीरियड में बिना एक शब्द लिखे बैठा रहता, फिर भी पूरी तरह जाग्रत रहता। शरीर ने स्थिरता सीखी। श्वास ने धैर्य सीखा। मन ने उत्तेजना का पीछा करने के बजाय निरीक्षण के भीतर विश्राम करना सीख लिया। यह प्रशिक्षण अलग तरह से कठिन था–यहाँ न पुरस्कार था, न पहचान, न कोई दिखाई देने वाली प्रगति।

कक्षा के बाहर भी यही अनुशासन स्वाभाविक रूप से चलता रहा।

उद्यानों और सड़कों पर चलते हुए प्रेमयोगी ने बिना जल्दी के चलना सीखा। उसने देखा कि इच्छा ध्यान को आगे खींचती है, भय उसे पीछे खींचता है, और जब ध्यान इन दोनों द्वारा

लगातार घसीटा जाता है, तो जागरूकता ढह जाती है। केवल चलते हुए और देखते हुए–बिना किसी परिणाम की चाह के–ऊर्जा एक स्थिर लय में बैठने लगी।

यह तपस्या थी, बिना कठोरता के।
न उपवास।
न आसन।
न मंत्र।
केवल निरंतर उपस्थिति।

धीरे-धीरे उसे समझ में आया कि जिसे अन्य लोग विचलन कहते थे, वही उसका प्रशिक्षण-स्थल बन गया था। जहाँ औपचारिक शिक्षा उत्तरों से बुद्धि मापती थी, वहीं जीवन अनुत्तरित अनुभूति से उसे प्रशिक्षित कर रहा था। जहाँ पाठ्यक्रम रटने की माँग करता था, वहाँ अस्तित्व स्पष्टता की माँग कर रहा था।

कृष्ण-कथाओं में भी ज्ञान केवल कक्षाओं में नहीं पकता। वह खेतों, वनों, संवादों, विरामों और खेल में पकता है। सीखना अक्सर तिरछे मार्ग से होता है–निर्देश से नहीं, जीए हुए संपर्क से।

यह चरण भी उसी लय का अनुसरण कर रहा था।

जो भटकाव जैसा दिखता था, वह वास्तव में संतुलन था। जो पीछे हटना लगता था, वह परिष्कार था। जागरूकता यह सीख रही थी कि बिना सहारे स्थिर कैसे रहा जाए, बिना कठोर हुए कैसे देखा जाए, और ऊर्जा को रिसने दिए बिना खुला कैसे रहा जाए।

इस अवधि के अंत तक प्रेमयोगी ने एक शांत क्षमता विकसित कर ली थी, जो आगे चलकर उसकी पहचान बनी: संरचना पर निर्भर हुए बिना उपस्थित रहने की क्षमता। वह अव्यवस्था के बीच बैठ सकता था, बिना विचलित हुए। वह भीड़ से गुजर सकता था, बिना आंतरिक सामंजस्य खोए।

पाठ्यक्रम धीरे-धीरे धुंधला पड़ता गया।
जीवन ने, एक बार फिर, नेतृत्व संभाल लिया।

अध्याय 4

रस का ठहरना सीखना

यह अध्याय किसी बड़े मोड़ की घोषणा नहीं करता। यह उससे भी अधिक शांत और निर्णायक बात को दर्ज करता है–अब रस को सुरक्षा की आवश्यकता नहीं रही। जो कभी आकर्षण के माध्यम से जागा था और गलत स्थानों में भी जीवित रहा था, वही अब एक नया कौशल सीख रहा था–ठहरने की क्षमता। न ऊपर उठने के लिए, न तीव्र होने के लिए, न अभिव्यक्ति खोजने के लिए, बल्कि सामान्य समय के प्रवाह में सहज रूप से उपस्थित रहने के लिए।

पहले रस क्षणों में रहता था। वह कुछ विशेष मुलाक़ातों, कुछ मौनों, कुछ तनावों में प्रकट होता था। वह चेतना को तीक्ष्ण करता और फिर पीछे हट जाता। अब बिना किसी प्रयास या इरादे के, वह पूरे दिन में समान रूप से फैलने लगा। न उछाल थे, न गिरावट। संवेदनशीलता को नवीनता की माँग नहीं रही। उसने निरंतरता सीख ली।

प्रेमयोगी ने इसे सबसे पहले विचार में नहीं, बल्कि आदत में महसूस किया। दिन स्वयं को दोहराते थे, फिर भी कुछ भी नीरस नहीं लगता था। वही रास्ते, वही घंटे, वही काम बार-बार सामने आते थे, पर ऊब के स्थान पर गहराई जमा होती चली जाती थी। हर पुनरावृत्ति मानो चेतना को घिसकर चमकाती जा रही थी, न कि उसे घिस रही थी। जिसे पहले उत्तेजना चाहिए होती थी, वही अब लय पर पनपने लगा था।

यह नया था।

अपरिपक्व अवस्था में रस तीव्रता पर जीता है। उसे विरोध चाहिए–प्रकाश के सामने अंधकार, निकटता के सामने दूरी, आकांक्षा के सामने संयम। पर तीव्रता लंबे समय तक जीवन को संभाल नहीं सकती। वह बहुत तेज़ी से जल जाती है। प्रेमयोगी अब जो खोज रहा था, वह अधिक स्थिर पोषण था–नियमितता।

योगिक दृष्टि से, ऊर्जा ने प्रतिक्रिया के माध्यम से रिसना बंद कर दिया था। वह न आकर्षण में बाहर की ओर दौड़ रही थी, न दमन में भीतर सिमट रही थी। वह ठहर गई थी–आलस्य में नहीं, बल्कि सजगता में। यह सजग विश्राम शायद अब तक का सबसे अपरिचित अनुभव था।

पहले चेतना घर्षण से तीक्ष्ण होती थी। अब वह केवल उपस्थिति से स्वयं को तीक्ष्ण कर रही थी।

इससे प्रेमयोगी का समय के साथ संबंध बदल गया। घंटों को अर्थपूर्ण बनाने की आवश्यकता नहीं रही। वे अपने अस्तित्व मात्र से अर्थपूर्ण थे। न शाम तक पहुँचने की हड़बड़ी थी, न दिनचर्या से भागने की अधीरता। प्रतीक्षा भी अपना भार खो चुकी थी। रस अब कोई घटना नहीं था; वह पृष्ठभूमि की ध्वनि बन चुका था।

इस चरण में अपनापन भी बदल गया। पहले अपनापन सहज या प्रतिक्रियात्मक था—या तो पूरी तरह दिया गया, या पीड़ादायक रूप से नकारा गया। अब वह बिना आसक्ति के लौट आया। प्रेमयोगी जहाँ था, वहाँ सहज था, पर स्थान, भूमिका या पहचान से चिपका नहीं था। आराम था, पर निर्भरता नहीं।

यह भेद गहरा था।

आसक्ति ऊर्जा को बाँधती है। सहजता उसे मुक्त करती है। रस ने उसे यह अंतर सीधे सिखाना शुरू किया—बिना शब्दों के।

अनुशासन ने भी नया अर्थ ग्रहण किया। वह न बाहर से थोपा गया था, न भीतर से प्रतिरोध किया गया। वह शरीर, स्थान और समय के बीच एक साझा लय बन गया। जागना, पढ़ना, विश्राम—इनमें कुछ भी बलपूर्वक नहीं था, और कुछ भी लापरवाह भी नहीं। संरचना उस पर दबाव नहीं डालती थी; वह उसे थामे रहती थी।

यह दमन के बिना संयम था।

रस को परिपक्व होने के लिए संयम चाहिए। उसके बिना संवेदनशीलता बिखर जाती है। और बहुत अधिक संयम में वह घुट जाती है। प्रेमयोगी यहाँ संतुलन का अनुभव कर रहा था—जहाँ संयम पृष्ठभूमि में शांत रूप से मौजूद था, जिससे चेतना अक्षुण्ण बनी रह सके।

इस चरण में आकर्षण और भी कोमल हो गया। सौंदर्य लुप्त नहीं हुआ। लोग अभी भी अभिव्यक्तिपूर्ण थे, हाव-भाव अर्थपूर्ण थे। पर आकर्षण ने अपनी तात्कालिकता खो दी। वह ऊर्जा को बाहर नहीं खींचता था। उसे देखा गया, सराहा गया, और बिना विघ्न के जाने दिया गया।

यह उदासीनता नहीं थी। यह परिष्कार था।

कुंडलिनी की भाषा में, ऊर्जा ऊपर की ओर बिना बल लगाए टिकना सीख रही थी। पहले के चरणों में दबाव, पुनर्निर्देशन और परिभ्रमण था। अब ऊर्जा ने स्थिति बनाए रखना सीखा। यह ठहराव जड़ता नहीं था; यह तत्परता थी।

अनेक अनुभव इसलिए ढह जाते हैं क्योंकि ऊर्जा चेतना के संभालने से पहले ही ऊपर उठ जाती है। यहाँ इसका उलटा हो रहा था। चेतना शांत रूप से फैल रही थी, आगे आने वाली किसी भी स्थिति के लिए स्थान तैयार कर रही थी।

इस चरण में कुछ भी स्पष्ट रूप से योग, ध्यान या जागरण की ओर संकेत नहीं करता था। और यही इसकी शक्ति थी। प्रेमयोगी रूपांतरण के पीछे नहीं भाग रहा था। वह स्वयं को पूर्ण रूप से जी रहा था।

यहीं अनेक साधक चूक जाते हैं—तीव्रता की कमी से नहीं, बल्कि धैर्य की कमी से। वे गति को विकास समझ लेते हैं। यह अध्याय प्रेमयोगी के जीवन में उस भ्रम के अंत को चिह्नित करता है।

रस ने यह सीख लिया था कि जीवित रहने के लिए उसे निरंतर अभिव्यक्ति की आवश्यकता नहीं है।

परिवेश ने भी यहाँ भूमिका निभाई—विरोध के रूप में नहीं, अनुरणन के रूप में। स्थान से संघर्ष नहीं था, न ही जागरूकता की रक्षा की आवश्यकता। स्थान हस्तक्षेप नहीं करता था; वह मेल खाता था। इसी मेल ने प्रयास को चुपचाप कई गुना बढ़ा दिया। जो पहले सतर्कता माँगता था, वह अब स्वाभाविक रूप से घटने लगा।

बाद में प्रेमयोगी समझेगा कि अलग-अलग लोग अलग-अलग परिवेशों से इसलिए अनुरणित होते हैं क्योंकि उनकी आंतरिक संरचनाएँ भिन्न होती हैं। पर जब चेतना व्यक्तिगत ढाँचों से परे परिपक्व हो जाती है, तो अनुरूपता सार्वभौमिक हो जाती है। यह चरण उसी सार्वभौमिकता की ओर एक कदम था।

रस परिवेश बन गया।

वह श्वास में, देह-भंगिमा में, ध्यान में रहने लगा। उसने स्वयं को घोषित करना छोड़ दिया। वह बस साथ चलने लगा। संवेदनशीलता अब उसे नाज़ुक नहीं बनाती थी। वह उसे सटीक बनाती थी।

इस सटीकता से आत्मविश्वास आया—अहंकार के बिना—और शांति आई—पलायन के बिना। वह जुड़ सकता था, बिना खिंचे हुए, और पीछे हट सकता था, बिना ग़ायब हुए। ऊर्जा न तो बहती थी, न दबती थी।

यह धारण करना था।

और आगे चलकर वह समझेगा कि धारण करना, ऊपर उठने से अधिक कठिन है।

यह अध्याय बिना उत्कर्ष, बिना साक्षात्कार और बिना निष्कर्ष के समाप्त होता है, क्योंकि यहाँ कुछ समाप्त नहीं हुआ। कुछ स्थिर हुआ।

रस झिलमिलाना बंद कर चुका था।
जागरूकता ने ठहरना सीख लिया था।
अब ही आरोहण बिना क्षति के संभव था।

रस के इतने लंबे समय तक टिके रहने का मुख्य कारण वह शांत, अव्यवस्थित और सरल जीवन था जो प्रेमयोगी उस स्थान पर जी रहा था। परिवेश स्वयं कम भीड़भाड़ वाला, कम प्रदूषित, कम शोरयुक्त और कहीं कम चिड़चिड़ा था। भौतिक दबाव न्यूनतम था, जबकि मानवीय भावनाओं, संवेदनाओं और आंतरिक अवस्थाओं को दिया गया मूल्य कहीं अधिक था। यह बाहरी सरलता उसकी आंतरिक निरंतरता को मौन समर्थन देती थी।

इस परिवेश ने प्रेमयोगी के पारिवारिक संस्कारों से प्राप्त अद्वैत-चिंतन को बिना बाधा जारी रहने दिया। उसके दादा घर में दिन-रात शास्त्र और पुराण पढ़ते रहते थे, अनजाने में एक अद्वैत वातावरण रचते हुए, जो आसपास सभी को सूक्ष्म रूप से प्रभावित करता था। अद्वैत ने उसके मन को अत्यधिक संग्रह, आकांक्षाओं और अशांत इच्छाओं के बोझ से मुक्त रखा। क्योंकि मन निरंतर संचय या तृप्ति की ओर नहीं खिंच रहा था, चेतना हल्की और उपलब्ध बनी रही।

परिणामस्वरूप, रस उसके मन में एक कोमल, दीप्त छवि उत्पन्न करता रहा—न बहुत तीव्र, न बहुत मंद, बल्कि स्थिर रूप से उपस्थित। यह संतुलित उपस्थिति अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी। अद्वैत का स्वाभाविक संतुलनकारी प्रभाव होता है: वह अभाव और अति, आकर्षण और संयम—सबको एक शांत मध्य में जोड़ देता है। उसी मध्य-स्थान में रस न जलता है, न बुझता है।

इसी संतुलन के कारण प्रेमयोगी वर्षों तक रस का आनंद ले सका। यदि वह रस-उत्पादक वस्तुओं में अति-भोग करता, तो उनका आकर्षण शीघ्र ही समाप्त हो जाता और रस ढह जाता। यदि वह उन्हें पूरी तरह नज़रअंदाज़ करता, तो संभव है रस कभी जागा ही न होता। उसने मध्य मार्ग सहज रूप से अपनाया—नियम से नहीं, जागरूकता से।

उस मध्य मार्ग ने रस को सुरक्षित रखा और उसे स्वयं को नष्ट करने के बजाय परिपक्व होने दिया।

यह एक कठोर सत्य है कि केवल अद्वैत वस्तु या अद्वैत व्यक्ति ही दूसरों में स्थायी रस उत्पन्न कर सकता है। अत्यधिक आसक्ति समय के साथ आकर्षण को घटा देती है, जबकि

अत्यधिक विरक्ति या तो रस को उत्पन्न ही नहीं होने देती, या केवल क्षणिक रूप से उत्पन्न करती है। केवल अद्वैत ही रस को बिना क्षय के जीवित रख सकता है।

अध्याय 5

स्पर्श के बिना प्रेम – जब रस योग बनता है

यह अध्याय रस की यात्रा को पूर्ण करता है और उसके अंतिम रूपांतरण को दिखाता है। जो संवेदनशीलता के रूप में आरंभ हुआ था, जो गलत स्थानों में भी जीवित रहा, जिसने अनुभूति सीखी और निरंतरता में स्थिर हुआ–वही अब अपने सबसे सूक्ष्म चरण में प्रवेश करता है। यहाँ प्रेम प्रकट होता है, पर न तो वह तृप्ति खोजती कामना है और न ही अभिव्यक्ति माँगता हुआ रोमांस। वह कंपन के रूप में आता है, अनुरणन के रूप में, एक ऐसी शक्ति के रूप में जो चेतना को बाँधने के बजाय उसे और तीक्ष्ण करती है। यही वह क्षण है जहाँ रस चुपचाप योग बन जाता है।

वास्तव में रस, अद्वैत का ही एक पर्याय है। दोनों एक-दूसरे को पोषित करते हैं। जहाँ अद्वैत उपस्थित होता है, वहाँ रस स्वाभाविक रूप से गहराता है; और जहाँ रस स्थिर रहता है, वहाँ अद्वैत मौन रूप से कार्यरत रहता है। द्वैत से मिला रस कामना में बदल जाता है, क्योंकि द्वैत आनंद को बिना उसे आसक्ति या विरक्ति में खींचे हुए संभाल नहीं सकता।

रस आनंद में गहरी तल्लीनता है–जैसे किसी समृद्ध रस को धीरे-धीरे पीना और उसके सार को पूरी तरह ग्रहण करना। वास्तव में "रस" शब्द का अर्थ ही रस, निष्कर्ष या सार है। यह क्षणिक स्वाद नहीं है, बल्कि ऐसा अनुभव है जो ठहर जाता है, जो बहुत बाद तक स्मृति में बना रहता है। जैसे अच्छे रस की मिठास देर तक स्मरण में रहती है, वैसे ही सच्चा रस चेतना पर स्थायी छाप छोड़ता है।

ऐसा रस केवल अद्वैत से ही उत्पन्न हो सकता है। द्वैत अनिवार्य रूप से या तो आसक्ति पैदा करता है या घृणा। दोनों ही रस के शत्रु हैं। आसक्ति बाँधती है; बंधन जिम्मेदारी, अपेक्षा और खो देने के भय को जन्म देता है। ये बोझ धीरे-धीरे आनंद को कम कर देते हैं। घृणा तो आनंद को उत्पन्न ही नहीं होने देती।

द्वैत के ये अवांछित परिणाम फल के मोटे गूदे जैसे हैं–भारी, रेशेदार और अवरोधक। शुद्ध रस केवल निचोड़ा हुआ रस है–बंधन के बिना आनंद, उलझन के बिना सुख, अधिकार के बिना निकटता। वह सहज रूप से बहता है और कोई अवशेष नहीं छोड़ता।

इसी कारण परंपरा में कृष्ण और राधा के बीच का रस कभी क्षीण नहीं होता। वह स्पर्श, अधिकार या तृप्ति से पोषित नहीं होता, बल्कि अद्वैत से जीवित रहता है। वहाँ न पकड़ है, न अस्वीकार–केवल अनुरणन है। ऐसा रस स्वयं को समाप्त नहीं करता, क्योंकि उसमें कुछ भी दूसरे को थामने या उपभोग करने की चेष्टा नहीं करता।

अद्वैत से जन्मा रस ऐसा ही होता है—पूर्ण रूप से अनुभूत शुद्ध आनंद, और फिर भी पूरी तरह मुक्त।

स्त्री-सान्निध्य प्रेमयोगी के जीवन में बिना किसी घोषणा के प्रवेश करता है। न कोई नाटकीय आगमन था, न स्पष्ट आरंभ, न कोई परिभाषित भूमिका। वह न प्रेमिका बनकर आई, न मित्र के रूप में। वह केवल एक ऐसी उपस्थिति थी, जो जहाँ भी आती, वहाँ के स्थान को बदल देती थी।

उसमें कुछ जाना-पहचाना था, पर परिष्कृत रूप में। जहाँ मोहन ने उग्रता और कच्ची प्रवृत्ति को धारण किया था, वहीं वह उसी ऊर्जा को परिष्कृत रूप में प्रतिबिंबित करती थी—चंचल, पर कोमल; शरारती, पर संयमित। यदि मोहन ने प्रेमयोगी को अग्नि दी थी, तो उसने ऊष्मा दी। यदि मोहन ने ऊर्जा को बाहर की ओर धकेला था, तो उसने उसे भीतर की ओर आमंत्रित किया।

प्रेमयोगी उसके प्रति विरक्त रह सका, क्योंकि उसने उसमें मोहन को पहचाना। मोहन में जो गुण थे, वही यहाँ परिष्कृत रूप में प्रकट हो रहे थे—लज्जा और जिज्ञासा का मिश्रण, सौंदर्य और छवि के प्रति सजगता, और दूसरों को प्रभावित करने की एक कोमल, चतुर शैली, जो कभी-कभी सूक्ष्म रूप से चालाक भी हो सकती थी। ये सब प्रेमयोगी के लिए नए नहीं थे; वह इन्हें बचपन में निकट से जी चुका था।

इसी पूर्व परिचय के कारण वह न तो रस को अस्वीकार कर सका और न उससे चिपक गया। यदि उसने मोहन के साथ वे प्रारंभिक वर्ष इतने गहराई से न जिए होते, तो परिणाम भिन्न हो सकता था। वह या तो रस को विघ्न मानकर नज़रअंदाज़ कर देता, या उससे आसक्त हो जाता, अनुरणन को अधिकार समझ बैठता।

पर अनुभव ने उसे स्पष्टता दी। जो परिचित था, वह उसे सम्मोहित नहीं कर सका; और जो आकर्षक था, वह उसे बहा नहीं ले गया। वह मध्य में खड़ा रह सका—पूर्ण जागरूक, पूर्ण रूप से उपस्थित, पर अनासक्त—और रस को चेतना को परिष्कृत करने दिया, बाँधने नहीं दिया। सांस्कृतिक मूल्य भी इस विरक्ति के पक्ष में थे।

वह सौंदर्य के पीछे छिपे सूक्ष्म खतरे को पहले ही देख चुका था। शायद इसी कारण शास्त्रों ने सौंदर्य की निंदा की—रस को नकारने के लिए नहीं, बल्कि विरक्ति की रक्षा के लिए। पर कहीं यह सूक्ष्म शिक्षा गलत समझ ली गई। सौंदर्य की निंदा को सौंदर्य के त्याग के रूप में पढ़ लिया गया, जबकि वह बंधन के प्रति चेतावनी थी।

उद्देश्य कभी रस से वंचित करना नहीं था, बल्कि उसमें चेतना को खोने से सावधान करना था। मध्य मार्ग व्याख्या में खो गया। सौंदर्य का आस्वादन बिना अधिकार के, आनंद बिना अंधेपन के, और त्याग बिना पश्चाताप के होना था। संतुलन रहे तो सौंदर्य चेतना को परिष्कृत करता है; संतुलन टूटे तो वही सौंदर्य उलझा देता है।

यह भेद प्रेमयोगी को शास्त्र से नहीं, प्रत्यक्ष देखने से स्पष्ट था।

यह संयोग नहीं था। यह निरंतरता थी।

उनके बीच जो घटा, वह सामान्य प्रेम की व्याकरण का पालन नहीं करता था। न स्वीकारोक्ति थी, न वचन, न शारीरिक निकटता। कई बार तो बातचीत भी नहीं। फिर भी कुछ स्पष्ट घट रहा था।

एक क्षणिक दृष्टि पूरे दिन की अनुभूति बदल देती थी। दूर से सुनी गई हँसी हृदय को कोमल कर देती थी। समय शब्दों से अधिक बोलने लगा। अनुपस्थिति भी संवाद बन गई।

वे एक-दूसरे की ओर नहीं बढ़े, फिर भी उनके बीच कुछ निरंतर गतिमान था।

यह स्पर्श के बिना प्रेम था।

इस चरण में प्रेमयोगी ने जाना कि आकर्षण को अस्तित्व के लिए अधिकार की आवश्यकता नहीं होती। वास्तव में अधिकार आकर्षण को कमजोर करता है। जो उसे सुदृढ़ करता है, वह संयम है—थोपा हुआ नहीं, बल्कि जागरूकता से उपजा हुआ।

रस इतना परिपक्व हो चुका था कि वह तीव्रता को बिना बाहर निकाले संभाल सकता था।

कुंडलिनी के रूपक में यह एक निर्णायक संक्रमण था। पहले ऊर्जा ने उठना और ठहरना सीखा था। अब उसने कुछ और सूक्ष्म सीखा—हृदय में परिसंचरण करना, बिना नीचे गिरे और बिना ऊपर को बलपूर्वक धकेले। न मूलाधार में, न सहस्रार में, बल्कि मध्य में—अनाहत में। वहीं यह प्रेमयोगी में सबसे स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ। यह छाती में एक कोमल, आनंदमय वेदना के रूप में था—तीव्रता नहीं, बल्कि मधुरता। बाद में ईसीजी में छाती की हड्डी की एक हल्की असमान वृद्धि दिखी, जो चिकित्सकीय रूप से निरापद थी।

यह कहना कठिन है कि यह शारीरिक रूप कारण था या परिणाम। जीवन में भीतर की गति और बाहरी रूप अक्सर साथ-साथ उत्पन्न होते हैं, सीधी कारण-कार्य रेखा से परे।

प्रेमयोगी के लिए इतना ही पर्याप्त था कि केंद्र बदल गया था—न अमूर्त ऊपर की ओर, न आवेगपूर्ण नीचे की ओर, बल्कि हृदय में, जहाँ संतुलन स्वाभाविक है।

ऐसा लगा कि इस हृदय-केंद्र के प्रभाव से उसका अध्ययन असाधारण रूप से स्थिर और गहरा हो गया। अनाहत ने सीखने में आनंद और प्रेम जोड़ दिया। प्रेम और शांति से किया गया कार्य अधिक गहराई से बैठता है और टिकाऊ होता है। जो दबाव से सीखा जाता है, वह नाज़ुक रहता है; जो प्रेम से सीखा जाता है, वह जड़ पकड़ लेता है।

प्रेमयोगी के लिए अध्ययन केवल मानसिक क्रिया नहीं रहा। वह हृदय-सहायित प्रवाह बन गया, जहाँ स्पष्टता, जिज्ञासा और संतोष साथ-साथ बहते थे।

कामना आई, पर उसने भोग नहीं किया; उसने परिष्कृत किया। ऊर्जा बिखरी नहीं; उसने चेतना को चमकाया।

यही प्रेम का योग बनना था।

उनका संबंध आवेग से नहीं, समय से संचालित था। क्षण बिना योजना के संरेखित होते थे। मार्ग बिना टकराव के मिलते थे। मौन भी अभिव्यक्तिपूर्ण हो गया। साथ होने पर गति स्वाभाविक रूप से धीमी हो जाती थी—सोच से पहले शरीर प्रतिक्रिया करता था।

न किसी ने प्रभावित करने की कोशिश की, न किसी ने प्रभावित होने की। और इसी कारण उपस्थिति स्वयं चुंबकीय बन गई।

प्रेमयोगी ने देखा कि इन क्षणों में उसकी चेतना और तीक्ष्ण हो जाती थी। ध्यान सूक्ष्म होता था। मन शांत होता था। आकर्षण उसे बाहर नहीं खींचता था; वह उसे भीतर स्थिर करता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह चरण पुराने, गहरे संस्कारों के शोधन के माध्यम से घटित हुआ, जो उसके संस्कारों से गहरे अनुरणन के कारण ऊपर आए—वे संस्कार जो केवल उसके अपने जीवन से नहीं, बल्कि परिवार, संबंधियों और विशेष रूप से मोहन से बने थे। जब कोई व्यक्ति लंबे समय से विद्यमान आंतरिक वातावरण को प्रतिबिंबित करता है, तो दबी हुई मानसिक संरचनाएँ स्वाभाविक रूप से उभर आती हैं। प्रश्न यह नहीं कि वे उभरेंगी या नहीं, बल्कि यह कि व्यक्ति उनके पीछे भागेगा या साक्षी बना रहेगा।

यदि कोई परिचित पैटर्न की ओर दौड़ पड़ता है, तो वे संस्कार फिर से सुदृढ़ होकर मन में गहराई से दब जाते हैं। प्रेमयोगी ने यह मार्ग नहीं चुना। वह भीतर मौन रहा, प्रत्येक उठती

मानसिक संरचना को देखता रहा, जब तक वह स्वयं विलीन न हो गई। इस विलय से एक शांत आनंद उत्पन्न हुआ—उत्तेजना नहीं, बल्कि राहत और स्पष्टता।

यह आनंद पुनः उसकी उपस्थिति को आकर्षित करता था। इस प्रकार एक चक्र बना—संस्कार उभरे, देखे गए, विलीन हुए, और हल्कापन छोड़ गए। यह चक्र धीरे-धीरे चलता रहा, स्पष्टता को गहराता हुआ और उसे आत्मबोध के लिए तैयार करता हुआ।

एक और सूक्ष्म मोड़ आया। जैसे-जैसे मन शुद्ध होता गया, प्रेमयोगी ने खाली हुई जगह को उसके माध्यम से नए संस्कारों से भरने की चेष्टा नहीं की, जैसा सामान्यतः होता। उसके दृष्टिकोण से यह संयम उदासीनता या विश्वासघात जैसा लग सकता था, क्योंकि अपेक्षित क्रम पूरा नहीं हुआ।

वास्तव में यह उदासीनता नहीं थी। आकर्षण भीतर ही अपने शिखर को छू चुका था। यदि वह बाहर की ओर बढ़ता, तो शारीरिक उलझन, बंधन और सामाजिक जटिलताएँ निश्चित थीं। इसके स्थान पर तीव्रता भीतर ही पूर्ण हुई और शांत हो गई। चेतना ने स्वाभाविक सीमा रेखा खींच दी।

मौन ने उसे सुरक्षित रखा, जिसे कर्म उलझा देता।
दूरी ने उसे बचाया, जिसे निकटता नष्ट कर देती।
और रस, भीतर संरक्षित होकर, आनंद में परिपक्व होता गया।

यह नया था।

जीवन के पहले चरणों में आकर्षण सदैव अभिव्यक्ति चाहता था—कर्म, वाणी या गति के माध्यम से। अब वह केवल उपस्थिति चाहता था। ऊर्जा को निकास नहीं चाहिए था; उसे परिष्कार चाहिए था।

इस चरण ने प्रेमयोगी के अस्तित्व में गहरी रेखा खींच दी।

यदि यह प्रेम जीवन में पहले आता, तो वह अस्थिर हो जाता। यदि शारीरिक अध्याय बचपन में पूर्ण न हुआ होता, तो यहाँ आकर्षण स्पर्श में ढह जाता। पर बाल-कृष्ण जीवन ने शारीरिक अध्याय पहले ही पूर्ण कर दिया था। शरीर भूखा नहीं था; उसने बिना अधिकार के स्वतंत्रता को याद रखा था।

इसी कारण प्रेमयोगी को स्पष्ट दिखा कि यहाँ शारीरिक निकटता की ओर बढ़ना लाभ नहीं, हानि लाएगा—न नैतिक हानि, बल्कि ऊर्जा की हानि। जो अनुरणन में विस्तृत था, वह रूप में बंध जाता।

यह स्पष्टता दमन से नहीं आई। यह अनुभव से आई।

स्पर्श के बिना प्रेम ने आरोहण को सुरक्षित रखा।

योगिक भाषा में, ऊर्जा ने ऊपर का मार्ग इसलिए चुना क्योंकि नीचे का मार्ग अब तृप्ति का वादा नहीं करता था। सुख जिया जा चुका था। शेष था आनंद।

यह भेद दुर्लभ और सूक्ष्म है। अधिकांश लोग दोनों को गड्ड-मड्ड कर देते हैं। सुख पुनरावृत्ति चाहता है। आनंद गहराई चाहता है। सुख ऊर्जा को खर्च करता है। आनंद उसे संकेंद्रित करता है।

यहाँ आकर्षण संकेंद्रक बन गया।

प्रेमयोगी ने इस प्रक्रिया को कोई नाम नहीं दिया। न उसने इसे तंत्र कहा, न भक्ति, न योग। जीवन स्वयं उसके माध्यम से साधना कर रहा था। सौंदर्य, संयम और समय के द्वारा चेतना प्रशिक्षित हो रही थी, तकनीक के द्वारा नहीं।

भागवत परंपरा में कृष्ण प्रेम-लीला में विवाह या संयोग से नहीं, अनुरणन से प्रवेश करते हैं। वहाँ प्रेम अधिकार नहीं, कंपन है। वह बाँधता नहीं, मुक्त करता है। वह तृप्ति पर समाप्त नहीं होता, अस्तित्व में विलीन हो जाता है।

यह चरण उसी आत्मा को बिना अनुकरण के प्रतिबिंबित करता है।

स्त्री-सान्निध्य स्थायी नहीं रहा। उसका उद्देश्य रुकना नहीं था, बल्कि आकार देना था। उसने वह पूरा किया जो मोहन ने आरंभ किया था। जहाँ मोहन ने प्रेमयोगी को अराजकता में भी मासूम रहना सिखाया, वहीं उसने तीव्रता को चेतना के साथ धारण करना सिखाया।

मोहन ने उसके सात्त्विक बालस्वभाव में प्राण फूँका—गति, उत्साह और बाह्य जीवंतता। लीना ने उसी उत्साहित अवस्था में परिपक्वता फूँकी—बिना उसे दबाए। इस स्वाभाविक अंतःक्रिया से तीनों गुण संतुलन में आए। संतुलन से चक्र संरेखित हुए, जीवन ने समता पाई, और उसी समता से मौन प्रकट हुआ। उस मौन ने ऊर्जा को गहन मानसिक शोधन के लिए उपलब्ध कराया।

जब यह शोधन एक सीमा पार कर गया, तो वह क्षणिक रूप से आत्मबोध के रूप में फूटा—स्थायी नहीं, पर निर्विवाद।

बाल्यकाल का सत्त्व पारिवारिक संस्कारों, शास्त्र-पाठ और तीर्थयात्राओं से पहले ही पोषित था। उस सत्त्व को मोहन के रजोगुण ने गति दी। जब गति अति की ओर झुकने लगी, तो जीवन ने तामसिक संतुलन जोड़ा—कठोर अनुशासन के माध्यम से। बाद में लीना की उपस्थिति ने उसी संतुलन को और सूक्ष्म रूप से सुदृढ़ किया।

इस प्रकार बिना किसी योजना के तीनों गुण संतुलित हो गए।
सत्त्व ऊपर स्पष्टता और जागरूकता के रूप में,
रजस मध्य में कर्म और सहभागिता के रूप में,
तमस नीचे स्थिरता और धारण के रूप में।

न कोई प्रधान हुआ, न कोई अस्वीकृत।

यही योग था—अभ्यास नहीं, नाम नहीं, अवधारणा नहीं, बल्कि जीवन।

इस चरण के अंत में कुछ नाटकीय नहीं हुआ। न मिलन, न वियोग, न हृदय-भंग, न तृप्ति। और इसी कारण रूपांतरण सफल हुआ।

अग्नि बुझी नहीं।
वह परिष्कृत हुई।

रस ने अपना कार्य पूरा कर लिया था। उसने संवेदनशीलता जगाई, परखी, स्थिर की और अंततः उसे योगिक उपकरण में रूपांतरित कर दिया। आगे ध्यान, आरोहण और विलय आने थे—पर वे बल से नहीं, तैयारी से आएँगे।

प्रेम ने चेतना को तीक्ष्ण किया।
चेतना ने संयम सीखा।
और संयम स्वतंत्रता बन गया।

रस ने अपना उद्देश्य पूरा किया।
अब योग को कामना से लड़ने की आवश्यकता नहीं थी।
कामना स्वयं उठना सीख चुकी थी।

और यही स्पर्श के बिना पूर्णता थी—जहाँ बाहर से जो दूरी दिखी, भीतर से वही आगमन था।

सनातन धर्म - जीया हुआ अनुभव
खंड द्वितीय: कृष्ण-जीवन

पुस्तक : भाग तीन
भक्ति – जब रस ने विश्राम करना सीखा

प्रेमयोगी वज्र

विषयसूची :

अध्याय 1: **स्पर्श के बिना प्रेम**
अध्याय 2: **वस्तु के बिना भक्ति**

अध्याय 1 : स्पर्श के बिना प्रेम

यह अध्याय उस निर्णायक मोड़ को चिन्हित करता है जहाँ आकर्षण बाहर की ओर जाना बंद कर देता है और भीतर की ओर रूपांतरित होने लगता है। यह दिखाता है कि जब रस न तो भोगा जाता है और न ही दबाया जाता है, तब वह कैसे परिपक्व होता है, और कैसे प्रेम—जब अद्वैत में स्थित रहता है—बंधन का कारण बनने के बजाय चेतना को परिष्कृत करने वाली एक मौन शक्ति बन जाता है।

प्रेमयोगी के जीवन के एक चरण में आकर्षण ने बिना किसी सूचना के अपनी दिशा बदल ली। न कोई घोषणा हुई, न कोई निर्णय लिया गया, और न ही कोई ऐसी बाहरी घटना घटी जिससे यह परिवर्तन पहचाना जा सके। दैनिक जीवन पहले जैसा ही चलता रहा। लोग आते-जाते रहे। दिन बीतते रहे। पर भीतर कुछ ऐसा आरंभ हो चुका था जो अब पलटने वाला नहीं था।

एक स्त्री-उपस्थिति थी, पर सामान्य अर्थों में नहीं। वह न कोई ऐसी प्रेमिका थी जिसे पाया जाए, न कोई संबंध जिसे गढ़ा जाए, और न कोई भविष्य जिसे योजनाबद्ध किया जाए। वह एक कंपन के रूप में उपस्थित थी—देखी कम, महसूस अधिक की गई; छुई नहीं, बल्कि जानी गई। उनके बीच का संबंध मुलाक़ातों से नहीं, समय-संयोग से खुलता था; संवाद से नहीं, दृष्टि से; स्पर्श से नहीं, संयम से। कई बार वे पास भी नहीं होते थे, फिर भी कुछ लगातार बहता रहता था।

जो सहज ही शारीरिक अभिव्यक्ति में बदल सकता था, वह बदला नहीं। न भय के कारण, न अनुशासन के दबाव से, और न किसी नैतिक विरोध के कारण—बल्कि इसलिए कि भीतर पहले से ही पूर्णता का अनुभव था। लेने की कोई जल्दी नहीं थी, सुलझाने की कोई बेचैनी नहीं थी। आकर्षण जीवित रहा, पर उसने बाहर की ओर धक्का नहीं दिया।

प्रेमयोगी ने स्वयं को रोकने का निर्णय नहीं लिया। संयम स्वाभाविक रूप से प्रकट हुआ, जैसे पकना बिना बल के आता है। इच्छा ने विसर्जन की माँग नहीं की; वह स्वयं को परिष्कृत करने लगी।

यह इस चरण का पहला गहरा पाठ था—ऊर्जा तब नष्ट नहीं होती जब उसे छोड़ा नहीं जाता; वह रूपांतरित हो जाती है।

अद्वैत चेतना में स्थित होकर आकर्षण ने अपने तीखे किनारे खो दिए। वह बेचैन और भोगात्मक होने के बजाय सूक्ष्म और चुंबकीय हो गया। उसे नवीनता की आवश्यकता नहीं

रही। वह गहराई प्रकट करने लगा। रस, जो पहले क्षण-क्षण में चलता था, अब निरंतरता सीखने लगा।

जब सौंदर्य को बिना पकड़ के रखा जाता है, तो वह एक बिल्कुल अलग शक्ति प्रकट करता है।

सामान्य जीवन में सौंदर्य प्रायः दो प्रतिक्रियाएँ जगाता है–आसक्ति या परिहार। या तो मन उसकी ओर दौड़ता है, या उलझन के भय से पीछे हट जाता है। प्रेमयोगी ने न तो दौड़ लगाई, न ही पलायन किया। बाल-कृष्ण की स्वतंत्रता से गढ़ा और चेतना से संतुलित उसका पूर्व जीवन उसे पहले ही स्वामित्व की कीमत और दमन की शुष्कता दिखा चुका था। इसलिए वह बिना नाम दिए मध्य मार्ग पर चल पड़ा।

उसने आकर्षण को बाहर की ओर पोषित किए बिना रहने दिया।

योग की भाषा में, जब ऊर्जा को उसके सामान्य निचले मार्ग नहीं मिलते, तो वह जड़ नहीं होती। वह ऊपर उठती है। पर यहाँ यह आरोहण बलपूर्वक नहीं था। वह कोमल, स्वाभाविक और लगभग सहज था। इच्छा इसलिए ऊपर नहीं उठी कि उसे रोका गया था, बल्कि इसलिए कि उसे व्यर्थ नहीं किया गया।

कभी उसे छाती में फैलती हुई ऊष्मा महसूस होती। कभी एक शांत वेदना–न सुख, न दुःख। कभी ललाट के पीछे हल्का दबाव। कभी बिना कारण का आनंद, जो प्रकट होकर ठहर जाता। ये सामान्य अर्थों में भावनाएँ नहीं थीं। ये ऊर्जा की गतियाँ थीं, जो सूक्ष्म मार्ग खोज रही थीं।

फिर भी, ऊर्जा के आरोहण के क्षणों में उसका रूप कभी-कभी मन में उभर आता, क्योंकि वही इस गति की मुख्य प्रेरणा रही थी। पर वह छवि अब कुंद थी–न तीखी, न खींचने वाली। वह आकर्षण पैदा नहीं करती थी। प्रेमयोगी उसे देखता और सहज ही अनदेखा कर देता। न उसका विरोध करता, न उसका आदर। उसे महत्व न देकर उसने एक साथ दो बातों से स्वयं को बचाया–उसके अहं के विस्तार से और अपनी बाहरी गति से। यह बहुत कम देखने जैसा था, और वह भी एक तटस्थ, लगभग उदासीन दृष्टि से। यह रस का निषेध नहीं था; वह उसे भीतर पूरी तरह भोग रहा था।

यह उदासीनता ठंडापन नहीं थी। यह स्पष्टता थी।

इस सहजता का एक कारण यह भी था कि उसमें उसे मोहन की झलक दिखाई देती थी। उसका नाम, उसका स्वभाव, और उसके व्यवहार के ढंग में एक पुरुष-सदृश गुण था। यह सूक्ष्म परिचय रोमांटिक आवेश को शांत कर देता था। जो इच्छा को पुनः जगा सकता था,

वही चेतना को स्थिर कर गया। इस अर्थ में वह प्रेम का विषय कम और एक उत्प्रेरक अधिक बन गई।

उसके आंतरिक प्रतीक में वह महाभारत के शिखंडी जैसी हो गई–आसक्ति की वस्तु नहीं, बल्कि वह माध्यम जिसके द्वारा भीष्म के भीतर की अज्ञानता भेदी जाती है। उसकी भूमिका स्वामित्व की नहीं थी, बल्कि एक कार्य को पूर्ण करने की थी। वह कार्य पूरा होते ही ऊर्जा स्वयं आगे बढ़ गई।

इस प्रकार उसकी छवि केवल एक अवशेष की तरह रह गई–स्वीकार की गई, पर अपनाई नहीं गई–जिससे आरोहण बिना विचलन, बिना पतन और बिना बाह्य खोज में लौटे चलता रहा।

इस रूप में रखा गया प्रेम ध्यान को खंडित नहीं करता था। वह उसे और तीक्ष्ण बनाता था।

प्रेमयोगी ने देखा कि उसकी जागरूकता अधिक सूक्ष्म हो गई है। छोटी-छोटी बातें स्पष्ट दिखने लगीं। ध्वनियों में बनावट आ गई। मौन में भार आ गया। किसी कक्ष में उसकी उपस्थिति बिना प्रयास वातावरण को प्रभावित करने लगी। वह ध्यान नहीं चाहता था, फिर भी ध्यान प्रत्युत्तर देता था। यह प्रदर्शन से उत्पन्न आकर्षण नहीं था, बल्कि संयम और निरंतर आंतरिक शुद्धि से जन्मा चुंबकत्व था।

अद्वैत चेतना इस पूरे समय मौन रूप से कार्य करती रही। उसने न आसक्ति को जन्म लेने दिया, न ही अस्वीकार को। भीतर यह बहस नहीं थी कि क्या होना चाहिए और क्या नहीं। अनुभव आते-जाते रहे, बिना टिप्पणी के। यही हस्तक्षेप का अभाव रस को आदत में गिरने से बचाए रखता था।

कृष्ण-जीवन की भाषा में, यह स्वामित्व के बिना प्रेम-लीला थी।

कृष्ण पकड़ते नहीं; वे न-अपनाकर बहुगुणित करते हैं। बाँसुरी श्वास को नहीं पकड़ती; वह उसे बहने देती है। उसी तरह प्रेमयोगी इतना रिक्त हो गया कि आकर्षण शोर नहीं, संगीत बन गया।

धीरे-धीरे एक और सूक्ष्म परिवर्तन हुआ। आकर्षण की वस्तु ने अपना केंद्रीय स्थान खोना शुरू कर दिया। व्यक्ति बना रहा, पर खिंचाव अब रूप से जुड़ा नहीं रहा। जो बचा, वह एक क्षेत्र था–एक शांत, दीप्त उपस्थिति, जो अनुपस्थिति में भी अनुभव की जा सकती थी, कई बार निकटता से अधिक।

यह उसे आरंभ में आश्चर्यजनक लगा। दूरी कैसे निकटता को गहरा कर सकती है? अनुपस्थिति कैसे उपस्थिति से अधिक पूर्ण लग सकती है?

धीरे-धीरे स्पष्ट हुआ। आकर्षण अब किसी व्यक्ति की ओर निर्देशित नहीं था। वह एक अवस्था की ओर निर्देशित हो गया था।

स्त्री-उपस्थिति एक द्वार बन गई थी। धीरे-धीरे वह द्वार भी घुलने लगा, और उसके पार का आकाश ही शेष रह गया–हालाँकि प्राण के तीव्र प्रवाह के समय उसकी छवि कभी-कभी केंद्र में उभर आती थी। रस पूरी तरह जीवित था, पर अब बाहर की ओर संकेत नहीं करता था।

इस रूपांतरण से दैनिक जीवन भी शांत रूप से लाभान्वित हुआ। अध्ययन गहरा हुआ। ध्यान स्थिर हुआ। आत्मविश्वास बिना प्रदर्शन के बढ़ा। मन प्रेम और विकास के बीच विभाजित नहीं रहा। दोनों एक-दूसरे को सहारा देने लगे। बाहरी विसर्जन से बची ऊर्जा आंतरिक स्पष्टता का पोषण करने लगी।

कुंडलिनी के रूपक में, यह बिना घर्षण के ऊर्जा का आरोहण था–निषेध से नहीं, बल्कि उपभोग के बिना पूर्णता से।

यदि प्रेमयोगी ने शारीरिक संपर्क की ओर जल्दबाज़ी की होती, तो कथा का अंत भिन्न होता। आसक्ति चेतना का स्थान ले लेती। ऊर्जा नीचे की ओर विसर्जित हो जाती और रस शीघ्र मुरझा जाता। यदि उसने आकर्षण को दबाया होता, तो वह कठोर या कटु हो जाता। उसने दोनों में से कुछ नहीं किया।

वह बीच में रहा–सचेत, संवेदनशील, जीवित।

यह मध्य मार्ग गणना से नहीं आया। वह पूर्व पूर्णता से उपजा। उसके बचपन ने शरीर को प्रकृति में स्वतंत्रता दे दी थी–तालाब, पहाड़, जंगल, बिना संकोच की गति। शारीरिकता पूर्ण रूप से, खुलेपन और निर्दोषता से जी ली गई थी। इसलिए स्वामित्व से तृप्त होने की कोई अधूरी भूख शेष नहीं थी। जो स्वतंत्र रूप से भोगा गया था, वह पुनरावृत्ति की माँग नहीं करता।

पूर्व तृप्ति ही सुरक्षा बन गई।

इसलिए आकर्षण ने उसे खतरा नहीं दिया। उसने उसे शिक्षित किया।

इस चरण के अंत तक आकर्षण की वस्तु अनुभव के केंद्र से लगभग विलीन हो चुकी थी। रस स्थिर और दीप्त बना रहा, अब किसी रूप पर निर्भर नहीं। मन ने "आगे क्या" पूछना बंद कर दिया। उसने ठहरना सीख लिया।

यह अध्याय ठीक उसी क्षण पर समाप्त होता है—जब प्रेम अभिव्यक्ति नहीं चाहता, पर अभी नामित भक्ति भी नहीं बना है। आकर्षण अपना रूपांतरण पूरा कर चुका है, पर भक्ति ने अभी स्वयं को घोषित नहीं किया है।

अग्नि स्थिर है।
नदी गहरी है।
संगीत आरंभ हो चुका है—बिना गायक के।

रस जीवित है, स्वयं में विश्राम करता हुआ, जो आने वाला है उसके लिए मौन रूप से तैयारी करता हुआ।

अध्याय 2 : वस्तु के बिना भक्ति
सविकल्प समाधि – जब स्मरण ही आधार बन गया

यह अध्याय न तो आकर्षण से आरंभ होता है और न ही वियोग से। दोनों पहले ही घटित हो चुके थे। यहाँ जो आरंभ होता है, वह कहीं अधिक शांत और निर्णायक है–मन का ठहरना सीख लेना।

जब यह चरण खुला, तब बाहरी जीवन अपने आप पुनर्व्यवस्थित हो चुका था। परिस्थितियाँ बिना किसी नाटकीयता के बदल गई थीं। रास्ते अलग हो गए थे। दिनचर्याएँ बदल गई थीं। न कोई जानबूझकर लिया गया संन्यास था, न कोई घोषित विरक्ति, न किसी अंत की घोषणा। जीवन बस आगे बढ़ गया–भीतर जो घट चुका था, उसके प्रति लगभग उदासीन रहते हुए।

प्रेमयोगी को जो बात आश्चर्यजनक लगी, वह क्षति नहीं थी, बल्कि क्षति का अभाव था।

उसने अपेक्षा की थी कि भीतर कहीं न कहीं विरह उठेगा, खिंचाव आएगा, भावनात्मक अस्थिरता होगी, या कम से कम स्मृति ध्यान माँगेगी। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। इसके स्थान पर गहराई प्रकट हुई। भौतिक निकटता का हट जाना भीतरी प्रवाह को कमज़ोर नहीं कर गया –उसने उसे स्थान से मुक्त कर दिया।

जो स्त्री-उपस्थिति पहले आकर्षण के रूप में प्रकट हुई थी, वह लुप्त नहीं हुई। उसका स्थान बदल गया। पहले वह मन के सामने खड़ी थी और चेतना को बाहर की ओर खींचती थी। अब वह हर चीज़ के पीछे बैठ गई–एक पृष्ठभूमि की तरह। उसकी तीव्रता घटती-बढ़ती रहती– कभी बहुत हल्की, कभी कुछ अधिक स्पष्ट–पर वह सभी गतिविधियों के नीचे निरंतर बनी रहती, सिवाय गहरी नींद या उन क्षणों के जब मन पूरी तरह थककर रिक्त हो जाता।

अब उसका अनुभव शारीरिक नहीं था। वह आकर्षण उत्पन्न नहीं करती थी। वह किसी गति का निमंत्रण नहीं देती थी। वह बस थी।

प्रेमयोगी ने देखा कि यह उपस्थिति एक पृष्ठभूमि की तरह व्यवहार कर रही थी–जिस प्रकार किसी चित्र के बदलते रहने पर भी कैनवास बना रहता है, उसी प्रकार विचार, अध्ययन, संवाद और दैनिक क्रियाएँ आती-जाती रहीं, पर यह भीतरी उपस्थिति स्थिर रही। दृश्य बदलते रहे। पृष्ठभूमि बनी रही।

भौतिक लीना धीरे-धीरे एक अभौतिक, पृष्ठभूमिगत लीना में रूपांतरित हो गई। इसे स्मरण कहा जा सकता है या किसी और नाम से पुकारा जा सकता है, पर यह न तो ज़ोर डालने वाला था, न आसक्तिपूर्ण, न ही कोई माँग रखने वाला। यह स्वतः उठता और शांत रूप से

बना रहता–बिना अशांति, बिना तड़प, बिना बाहर की ओर खिंचाव के। यह न ध्यान खींचता था, न दमन की माँग करता था। यह केवल विचारों के नीचे एक कोमल, तटस्थ उपस्थिति के रूप में मौजूद रहता–जैसे पृष्ठभूमि का प्रकाश, जो दृश्य में बाधा नहीं डालता।

यह कल्पना नहीं थी। कल्पना थका देती है। यह नहीं थकाता था।

न उसने इसे ध्यान देकर पोषित किया, न दबाया। न इसे श्रेय दिया, न दोष। ऐसा करने से एक सूक्ष्म घटना घटित हुई–आसक्ति का बीज बिना संघर्ष के जल गया। स्मरण था, पर माँग नहीं। उपस्थिति थी, पर खिंचाव नहीं। ऊष्मा थी, पर जल्दी नहीं।

यह सविकल्प समाधि थी–घटना के रूप में नहीं, बल्कि अस्तित्व की एक शैली के रूप में।

मन के पास एक वस्तु थी, पर वह उसकी ओर बढ़ नहीं रहा था। चेतना रूप की उपस्थिति के साथ विश्राम कर रही थी, पर रूप में शक्ति नहीं बची थी। यह वही दुर्लभ मध्य अवस्था है, जिसकी ओर शास्त्र संकेत तो करते हैं, पर स्पष्ट वर्णन कम ही करते हैं–बंधन के बिना रूप।

बाहरी जीवन पहले की तरह चलता रहा। प्रेमयोगी पढ़ता रहा, चलता रहा, बोलता रहा, हँसता रहा, काम करता रहा–सामान्य मनुष्यों की तरह। पर भीतर कुछ स्थिर हो चुका था। हर चीज़ के नीचे एक शांत मधुरता बह रही थी–स्थिर और उष्ण, जैसे ज़मीन के नीचे बहती नदी। वह गतिविधि में बाधा नहीं डालती थी। वह उसे सहारा देती थी।

यह उसे साकार गंगा की तरह अनुभव हुआ–जो जहाँ-जहाँ छूती है, उसे शुद्ध करती चलती है। उसकी उपस्थिति के माध्यम से एक अदृश्य धारा निरंतर बहने लगी–मूलाधार से सहस्रार तक और फिर वापस–जैसे गंगा हिमालय से समुद्र की ओर उतरती है और फिर भीतर की ओर पर्वतों की ओर लौटती है। ऊर्जा स्वाभाविक रूप से ऊपर-नीचे चलती रही–न बलपूर्वक, न अवरुद्ध होकर। यह गति उसके स्त्री-सदृश आकर्षण द्वारा निर्देशित थी–कुछ-कुछ लैंगिक आकर्षण जैसी, पर उससे कहीं अधिक गहरी, सूक्ष्म और तृप्तिदायक। यह शारीरिक नहीं, बल्कि मनोवैज्ञानिक और ऊर्जात्मक थी, जो विचारों के नीचे कार्य करती थी। जहाँ सामान्य आकर्षण विसर्जन चाहता है, वहाँ यह प्रवाह परिक्रमण चाहता था। जहाँ इच्छा बाँधती है, वहाँ यह धारा शुद्ध करती, संतुलित करती और बार-बार स्वयं को पूर्ण कर लेती थी।

ध्यान बैठने से शुरू नहीं हुआ। वह घटित होने लगा।

कुछ क्षण ऐसे आते–अक्सर चलते समय, कभी पढ़ते हुए, कभी बिना किसी विशेष कारण के –जब मन अचानक धीमा होकर ठहर जाता। न प्रयास से, न नियंत्रण से। विचार पतले होते,

फिर रुक जाते। समय ढीला पड़ जाता। शरीर सक्रिय, उत्तरदायी और कार्यशील रहता, पर भीतर एक स्थिरता का अनुभव होता।

जीवन की दो परतें साथ-साथ चलती रहीं–
एक संसार में संलग्न,
दूसरी उसके नीचे विश्राम करती हुई।

दोनों एक-दूसरे को बाधित नहीं करती थीं।

यह स्थिरता नीरस नहीं थी। वह मधुर थी। कभी वह कोमलता बनकर प्रकट होती। कभी छाती में हल्की वेदना के रूप में। कभी शांत ऊष्मा के रूप में। कभी बिना दुःख के आँसू। कभी बिना कारण हँसी। रूप बदलते रहे, सार वही रहा।

सबसे महत्वपूर्ण यह था कि यह स्थिरता ध्यान नहीं माँगती थी। सामान्य भावनाएँ समाधान चाहती हैं। यह नहीं। यह अनदेखा किए जाने पर भी बनी रहती थी। बल्कि उपेक्षित होने पर और स्पष्ट हो जाती थी।

भीतरी स्त्री-उपस्थिति–अब न कोई आकृति, न कोई व्यक्तित्व–कभी-कभी प्राण के तीव्र प्रवाह के समय उभर आती। तब भी वह छवि कुंद, तटस्थ, लगभग प्रतीकात्मक होती। प्रेमयोगी ने इसे साफ़ पहचाना–छवि अब स्रोत नहीं थी। वह केवल प्रतिध्वनि थी।

उसकी ओर न बढ़ने से दो खतरे एक साथ टल गए।
उसका अहं नहीं फूला।
उसकी ऊर्जा बाहर नहीं खिंची।

द्वार अपना कार्य कर चुका था।

कुंडलिनी की भाषा में, ऊर्जा ठहरना सीख चुकी थी। न वह ऊपर की ओर दौड़ रही थी, न नीचे गिर रही थी। वह मुख्यतः हृदय और उसके ऊपर के क्षेत्र में विश्राम कर रही थी–बिना दबाव के, परिक्रमण करती हुई। यह ठहराव जीवनशक्ति को कम नहीं करता था। वह उसे स्थिर करता था। उसने सभी दबे हुए भावनात्मक संस्कारों को साफ़ कर दिया। मानसिक अवशेष जलते गए और जीवनशक्ति स्वाभाविक रूप से बढ़ती गई। फिर भी उसने उस खाली हुए स्थान को बाहरी शोर से भरने की जल्दी नहीं की। अध्ययन का सरल बहाना लेकर वह गहन वैज्ञानिक पुस्तकों की ओर मुड़ गया और उन्हें धीरे, धैर्यपूर्वक, पूरी तरह समझने में लग गया–बिना तनाव, बिना थकान के।

इससे एक साथ दो काम हुए। बाहर की दुनिया से नया मानसिक कचरा भीतर आने से रुका, जिससे आत्मसाक्षात्कार की दिशा सुरक्षित रही। साथ ही वह वैज्ञानिक समझ में गहराई से जड़ जमाने लगा, जो आगे चलकर सांसारिक दक्षता और सफलता के लिए आवश्यक थी। बाहर से जो साधारण पढ़ाई दिखती थी, भीतर वह एक स्थिरकारी अनुशासन थी, जिससे चेतना साफ़ रहती और जीवन सामान्य रूप से चलता रहता।

फिर वह निर्णायक क्षण आया।

न अभ्यास में।
न चिंतन में।
न प्रयास में।

वह नींद में आया।

एक रात, स्वप्नावस्था में, चेतना ने अपनी अंतिम सीमा पार कर ली। कोई सामान्य स्वप्न-दृश्य नहीं था, कोई कथा नहीं। अचानक, बिना विचार के, पूर्ण पहचान घटित हुई। कुछ क्षणों के लिए "मैं" का बोध पूरी तरह विलीन हो गया। न द्रष्टा था, न दृश्य—केवल स्पष्टता, विशाल और स्वयंसिद्ध।

वह अधिक देर नहीं रहा। शायद दस सेकंड, उससे भी कम।

पर वह पूर्ण था।

यह क्षणिक आत्मसाक्षात्कार था—स्वच्छ, निर्विवाद, और अपने प्रभाव में अपरिवर्तनीय। सामान्य चेतना में लौटने पर कोई नाटकीय परिवर्तन नहीं हुआ। न आतिशबाज़ी, न घोषणा। केवल यह गहरी निश्चितता कि कुछ मौलिक देखा जा चुका है, जिसे अब अनदेखा नहीं किया जा सकता।

इसके बाद भीतरी छवि बनी रही—पर सदा के लिए बदली हुई।
अब वह शारीरिक नहीं थी, न भावनात्मक, न संबंधपरक। वह एक धुँधली रेखा की तरह थी—एक प्रतीकात्मक अवशेष। बीज जल चुका था। जो बचा था, उसमें बाँधने की कोई शक्ति नहीं थी। पृष्ठभूमि की उपस्थिति बनी रही, पर अब प्रेरक शक्ति नहीं, बल्कि तटस्थ क्षेत्र के रूप में।

इससे सब कुछ पीछे से स्पष्ट हो गया।

प्रेमयोगी समझ गया कि उसने कभी संपर्क की ओर कदम क्यों नहीं बढ़ाया। संयम दमन जैसा क्यों नहीं लगा। आकर्षण ने उसे क्यों परिष्कृत किया, क्यों नहीं खा गया। ऊर्जा स्वाभाविक रूप से ऊपर उठ रही थी–हर निचले मार्ग पर बल से नहीं, बल्कि तृप्ति के कारण रुकते हुए।

शरीर पर रोकी गई–तो वह भाव में उठी।
भाव पर रोकी गई–तो वह अभिव्यक्ति में उठी।
अभिव्यक्ति पर रोकी गई–तो वह अंतर्दृष्टि में उठी।
अंतर्दृष्टि पर रोकी गई–तो वह चेतना में विलीन हो गई।

यह नैतिक नियंत्रण नहीं था। यह स्वाभाविक आरोहण था।

अब से भक्ति का अर्थ किसी छवि या उपस्थिति के प्रति समर्पण नहीं रहा। उसका अर्थ हो गया–अवस्थान। जीवन स्वयं प्रार्थना बन गया। न चुना हुआ, न नामित, न किया हुआ।

दुनिया चलती रही। शोर और मौन आते-जाते रहे। सफलता और भ्रम प्रकट होकर मिटते रहे। इनमें से कुछ भी भीतरी विश्राम को विचलित नहीं कर सका। यह उदासीनता नहीं थी। यह स्थिरता थी।

बाद में, जब प्रेमयोगी ने शास्त्र पढ़े, तो उसने इस अवस्था को तुरंत पहचान लिया। संतों ने इसके संकेत दिए थे–अप्रयास स्मरण, वस्तु के बिना प्रेम, रूप से परे भक्ति। पर जब यह घटा था, तब कोई शब्द उपस्थित नहीं थे। यह वैसे ही घटा, जैसे ऋतु आने पर फल पकता है।

उसने कृष्ण-राधा प्रेम की कथाएँ विस्तार से सुनी थीं। कभी-कभी उसे लगा कि वह जो जी रहा है, क्या वही प्रेम है। कथा की भाषा में कुछ समानता थी। पर उसका अनुभव समकालीन बनावट, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक गति और जीए हुए तात्कालिकपन से भरा था, जिसे कोई प्राचीन वर्णन पूरी तरह बाँध नहीं सकता। वह इसे वर्तमान भाषा में इसलिए कह पा रहा था, क्योंकि वह इससे होकर गुज़रा था।

यहीं एक गहरा प्रश्न उठा। क्या कृष्ण-राधा प्रेम किसी एक समय, एक स्थान और एक व्यक्तित्व तक सीमित घटना था? या वह एक शाश्वत प्रतिरूप है–जो जहाँ भी चेतना, संयम और रस के अनुकूल परिस्थितियाँ मिलती हैं, वहाँ चुपचाप घटित होता रहता है? संभव है कि शास्त्रीय कथा किसी ऐतिहासिक घटना का लेखा न होकर एक कालातीत आंतरिक प्रक्रिया का प्रतीक हो, जो अलग-अलग जीवनों में, अलग-अलग युगों में स्वयं को दोहराती रहती है।

उत्तर ग्रंथों में नहीं था। वह दृष्टि में था। बाहर से पढ़ने वाले के लिए वह कहानी ही रहती है। जीने वाले के लिए वह चेतना का जीवित नियम बन जाती है—सदैव उपस्थित, सदैव नवीन, और किसी एक नाम या रूप में सीमित नहीं।

यह लीला से परे कृष्ण-जीवन था।

न खेल, न आकर्षण, न कथा, और न ही सामान्य अर्थों में भक्ति। लीला अपना कार्य कर चुकी थी और हट गई थी। जो शेष था, वह गति नहीं, बल्कि आधार था। मिठास नहीं, बल्कि गहराई। उत्तेजना नहीं, बल्कि स्थिरता।

यहाँ तक कि स्मरण भी नहीं—बल्कि वह उपस्थिति, जो स्वयं को याद रखती है।

अध्याय बिना निष्कर्ष के समाप्त होता है। न कोई उपलब्धि दिखाने को है, न कोई ज्ञान दावा करने को। केवल एक शांत निश्चितता है—

आकर्षण अपना कार्य पूरा कर चुका था।
रस ने विश्राम करना सीख लिया था।
भक्ति ने चेतना को स्थिर कर दिया था।

और मन—अपने स्रोत को एक बार छू लेने के बाद—अब कभी पूरी तरह घर का रास्ता नहीं भूल सकता था।

सनातन धर्म - जीवित अनुभव
खंड द्वितीय: कृष्ण-जीवन

पुस्तक भाग चार: गोपी समाधि — जब प्रेम ही आधार बन गया

विषय-सूची:

अध्याय 1: बिना प्रयास के स्मरण; अध्याय 2: स्वप्न-सेतु का जागरण; अध्याय 3: जो सुगंध शेष रह गई।

अध्याय 1

बिना प्रयास के स्मरण

यह अध्याय उस अवस्था को चिह्नित करता है जहाँ रस अब गति, अभिव्यक्ति या तीव्रता की खोज नहीं करता। जो कभी आकर्षण के रूप में उठा था, वही अब निरंतरता में स्थिर हो जाता है। न कुछ नया जोड़ा जाता है, न कुछ पुराना हटाया जाता है। चेतना बस यह सीख लेती है कि कैसे टिके रहना है। यह अध्याय इस बात की खोज करता है कि स्मरण कैसे सहज हो जाता है, प्रेम कैसे बाहर की ओर संकेत करना बंद कर देता है, और आंतरिक उपस्थिति कैसे समस्त गतिविधि की पृष्ठभूमि बन जाती है।

जैसे-जैसे स्मरण गहराता गया, संसार बिना किसी प्रयास के फीका पड़ने लगा। न कुछ अस्वीकार किया गया, न कुछ दूर धकेला गया। प्रेमयोगी न जीवन से हटे, न उससे भागने का कोई प्रयास किया। फिर भी, धीरे-धीरे, लगभग अनदेखे ढंग से, बाहरी संसार की पकड़ ढीली पड़ने लगी। वस्तुएँ वही रहीं, लोग पहले जैसे ही व्यवहार करते रहे, दिनचर्या भी वैसी ही चलती रही, पर उनका ध्यान खींचने का बल कम हो गया।

वह पढ़ रहे हों, चल रहे हों, अकेले बैठे हों, या सामान्य दैनिक गतिविधियों में लगे हों–वही आंतरिक उपस्थिति उनके भीतर स्थिर बनी रहती। अब वह सामान्य अर्थों में कोई छवि नहीं थी। वह किसी चेहरे, किसी रूप या किसी दृश्य के रूप में प्रकट नहीं होती थी। वह अधिक एक जीवंत पृष्ठभूमि की तरह चमकती थी–देखी जाने से अधिक अनुभूत, कल्पित होने से अधिक महसूस की गई। विचार स्वाभाविक रूप से पतले होने लगे, जैसे समुद्र की ओर बढ़ते हुए नदी संकरी हो जाती है। इस पतले होने में कोई संघर्ष नहीं था। यह अपने-आप घटित होता था।

साधारण लोगों को समझाने के लिए इसे मानसिक छवि कहा जा सकता है। रूप में यह मन में धारण की गई किसी छवि जैसी लगती है, पर अपने स्वभाव में यह पूरी तरह भिन्न है। इसे याद रखने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। यह ध्यान की माँग नहीं करती। यह मन को बाहर की ओर नहीं खींचती। यह मानो चुनी जाने के बजाय आरोपित-सी प्रतीत होती है, फिर भी यह बाधक नहीं होती। मन को सुस्त करने के बजाय यह उसे तीक्ष्ण बनाती है। संन्यास की तरह समाज से हटाने के बजाय यह व्यक्ति को और अधिक उपस्थित, सामाजिक और सजग बना देती है।

यह अंतर इसलिए है क्योंकि यह स्मरण ऊर्जा को खर्च नहीं करता; वह उसे घुमाता है।

सामान्य आकर्षण में, जहाँ शारीरिक संपर्क शामिल होता है, ऊर्जा बाहर की ओर निकल जाती है। संपर्क न भी हो, तो भी मन उस संभावित विसर्जन को याद रखता है। वही स्मृति

द्वितीयक क्षय को जन्म देती है—चंचलता, भावनात्मक उथल-पुथल, झगड़ा, ईर्ष्या, क्रोध, तृष्णा और षड्रिपु के अनेक रूपों के माध्यम से। ऊर्जा परोक्ष रूप से रिसती रहती है। जैसे-जैसे मस्तिष्क की ऊर्जा घटती है, प्रिय का स्मरण भारी, प्रयासपूर्ण और कष्टदायक लगने लगता है। तब मन स्मरण से बचने लगता है, क्योंकि स्मरण पोषण नहीं, बोझ बन जाता है।

इसके विपरीत, बिना-संपर्क वाला प्रेम भिन्न ढंग से कार्य करता है।

यहाँ ऊर्जा न बाहर निकलती है, न दबाई जाती है। वह परिभ्रमित होती है। स्मरण रीढ़ के साथ प्राण का निरंतर ऊपर-नीचे का प्रवाह आरंभ करता है। ऊर्जा उच्च केंद्रों की ओर उठती है और फिर लौट आती है, बिना क्षय के। यह एक निर्गम नहीं, बल्कि एक बंद परिपथ बनाता है। क्योंकि ऊर्जा जितनी खर्च होती है उससे अधिक उत्पन्न होती है, कुल लाभ होता है। मस्तिष्क को क्षय के स्थान पर पोषण मिलता है। बुद्धि तीक्ष्ण होती है। ध्यान स्थिर होता है। स्मृति सशक्त होती है। प्रयास कम हो जाता है।

इसी कारण मन स्वाभाविक रूप से स्मरण को दोहराता है। आसक्ति के कारण नहीं, बल्कि इसलिए कि स्मरण स्वयं जीवन-ऊर्जा का स्रोत बन चुका होता है। छवि जीवित रहती है क्योंकि वह निरंतर परिभ्रमित ऊर्जा-चक्र से पोषित होती है। इसी कारण यह अनुशासन से नहीं, बल्कि जैविक और मनोवैज्ञानिक दक्षता से, एक निरंतर समाधि-छवि में परिवर्तित हो जाती है।

यह भी स्पष्ट करता है कि हर स्त्री ऐसा बिना-संपर्क वाला प्रेम क्यों नहीं बन पाती।

इस चक्र के प्रज्वलन के लिए एक सटीक आंतरिक अनुनाद आवश्यक होता है। केवल तभी, जब कोई व्यक्ति किसी के मानस, स्वभाव और सुप्त पैटर्न से गहराई से मेल खाता है, तब निचले केंद्रों पर उत्तेजना पर्याप्त तीव्रता तक पहुँचती है। जब वह उत्तेजना चरम पर पहुँचकर भी अभिव्यक्त नहीं होती, तब उसका बल बाहर की ओर न जाकर रीढ़ के साथ ऊपर की ओर मुड़ जाता है। उसी क्षण एक शक्तिशाली आंतरिक संस्कार बनता है—कल्पना से नहीं, बल्कि ऊर्जा से। एक बार यह ऊर्ध्वगामी पुनर्निर्देशन हो जाए और संपर्क टल जाए, तो चक्र स्थिर हो जाता है।

जब कोई प्रेमी-सदृश व्यक्ति साझा जीवन के लिए पूर्ण अनुकूल प्रतीत होता है—जहाँ आकर्षण असीम, स्वाभाविक और पूर्ण लगता है—फिर भी बंधन भीतर ही रहता है और संपर्कहीन रहता है, तब उसके संपूर्ण रूप को साथी में स्पष्ट और जीवंत देखा जाता है, जिससे पुरानी स्मृतियाँ और संस्कार उभरते हैं और उसके परिजनों द्वारा भी अधिक प्रेम और पहचान मिलती है। यह चेतना में एक अत्यंत विशिष्ट गति का संकेत है। यह न साधारण रोमांस है,

न दमन या नैतिक नियंत्रण। यह वह आकर्षण है जो स्वामित्व में गिरे बिना पूर्णता तक पहुँच गया है।

बिना-संपर्क प्रेम के स्थायी रूप से कार्य करने के लिए प्रायः एक अतिरिक्त शर्त उपस्थित रहती है–आकर्षण के विरुद्ध एक हल्का प्रतिरोध। यह उदासीनता, प्रतिरोध या हल्के आंतरिक विरोध के रूप में प्रकट हो सकता है। यह सामान्य अर्थों में शत्रुता नहीं, बल्कि एक स्वाभाविक संयम है, जो शारीरिक संपर्क की ओर गति को रोकता है। इस संतुलन के बिना आकर्षण स्पर्श के माध्यम से पूर्णता खोजने लगता है और ऊर्जा बाहर की ओर गिर जाती है।

प्रेमयोगी के मामले में यह संतुलन स्वतः उत्पन्न हुआ। स्त्री-उपस्थिति के साथ-साथ उन्होंने उसमें मोहन को भी देखा–वही तीक्ष्णता, प्रतिस्पर्धा और प्रतिपक्षी बल, जिसने कभी उनके बचपन को आकार दिया था। मोहन उनके लिए मित्र भी थे और प्रतिद्वंद्वी भी–स्नेह और घर्षण का मिश्रण। वही संस्कार आगे बढ़ा। इसी कारण आकर्षण कभी समर्पण में नहीं ढला। ऊष्मा कभी पीछा करने में नहीं बदली।

इस अनुभूति ने शारीरिक निकटता को सहज ही बाहर कर दिया। संपर्क आमंत्रक नहीं लगा; वह अनावश्यक और असंगत प्रतीत हुआ। कुछ सामान्य सांसारिक परिस्थितियों में शरीर में उत्तेजना दर्ज हुई, पर मन बाहर की ओर नहीं गया। जिस मार्ग से सामान्यतः क्रिया प्रवाहित होती है, वही मार्ग बंद रहा।

परिणामस्वरूप, जागृत ऊर्जा के लिए केवल एक दिशा शेष रही–ऊपर की ओर। निचले केंद्रों पर निर्गम न मिलने से वह परिष्कृत हुई और स्वाभाविक रूप से उच्चतर स्तरों की ओर उठी। जो अन्यथा क्रिया के माध्यम से विसर्जित हो जाती, वही स्पष्टता, स्थिरता और तीक्ष्ण बोध में रूपांतरित हो गई।

अतः यह दमन नहीं, संतुलन था जिसने आरोहण को संभव बनाया। प्रेम जीवित रहा, फिर भी संयमित। दूरी बनी रही, पर शीतलता के बिना। आकर्षण और प्रतिरोध का यह सूक्ष्म सह-अस्तित्व वही सटीक परिस्थितियाँ बना गया, जिनमें ऊर्जा बिना संघर्ष और बिना क्षय के उच्च केंद्रों की ओर सफलतापूर्वक उठ सकी।

बाद की सूक्ष्म बाह्य अभिव्यक्तियाँ–दृष्टि, समय, दूरी, मौन–ऊर्जा को विसर्जित नहीं करतीं। वे केवल संस्कार को सुदृढ़ करती हैं। शीघ्र ही छवि स्वयं-पोषित हो जाती है। वह अब याद नहीं की जाती; वह स्वयं को याद रखती है। इसलिए वह तब भी बनी रहती है जब मन थका हुआ, रिक्त या असंलग्न हो। वह प्रयास से नहीं, चक्र से पोषित होती है।

इस अर्थ में, ऐसा साक्षात्कार तांत्रिक दीक्षा के समान कार्य करता है। औपचारिक नहीं, अनुष्ठानिक नहीं, और जानबूझकर नहीं–पर वास्तविक। जब यौन मनोविज्ञान को बिना-संपर्क और अद्वैत से परिष्कृत किया जाता है, तो वह सामान्य अर्थों में यौन नहीं रहता। वह योगिक बन जाता है। जो ऊर्जा सामान्यतः बाहर की ओर बिखरती, वही परिभ्रमण, शुद्धि और स्पष्टता में रूपांतरित हो जाती है।

इसी कारण यह छवि जीवन को बाधित नहीं करती, बल्कि सहारा देती है।
इसी कारण यह बुद्धि को खंडित नहीं करती, बल्कि एकाग्र करती है।
इसी कारण यह स्वामित्व की माँग नहीं करती, बल्कि उपस्थिति को गहरा करती है।

यह प्रेम का अभाव नहीं है।
यह रिसाव-रहित प्रेम है।
और यही मूलतः वह मार्ग है जिससे स्मरण समाधि बन जाता है।

कुछ लोग इसे सिद्धांत कह सकते हैं। यह सिद्धांत नहीं है।
यह जिया हुआ वर्णन है।

यहाँ कुछ भी कल्पित, अनुमानित या विचारों से निर्मित नहीं था। इसे मानस की प्रयोगशाला में बार-बार सत्यापित किया गया–प्रत्यक्ष अनुभव के माध्यम से, समय के साथ निरंतर, दैनिक जीवन, दबाव, थकान, अध्ययन, सामाजिक संपर्क और आंतरिक मौन द्वारा परखा गया। संकल्पनाएँ बहुत बाद में आईं। शब्द संकल्पनाओं के भी बाद आए। प्रक्रिया पहले घटित हुई।

सिद्धांत पर विवाद हो सकता है। जिया हुआ तंत्र मिटाया नहीं जा सकता। जब वही पैटर्न महीनों और वर्षों तक दोहरता है–भ्रम के बजाय स्पष्टता, थकान के बजाय ऊर्जा, आसक्ति के बजाय बुद्धि उत्पन्न करता हुआ–तो वह अटकलबाज़ी नहीं रहता। वह कार्यशील सत्य बन जाता है।

प्रेमयोगी ने इसे सच मानकर नहीं माना। उन्होंने इसे काम करते हुए देखा।

उन्होंने देखा कि स्मरण के कुछ रूप ऊर्जा को चूसते हैं और मन को धुँधला करते हैं, जबकि एक अन्य प्रकार का स्मरण बोध को तीक्ष्ण करता है, भावनाओं को स्थिर करता है और जीवन-शक्ति को बनाए रखता है। उन्होंने देखा कि संपर्क परिपथ को तोड़ देता है, और संयम उसे सुदृढ़ करता है। उन्होंने देखा कि परिभ्रमण से बुद्धि उठती है, और अपव्यय से अशांति आती है। ये दार्शनिक निष्कर्ष नहीं थे; ये व्यावहारिक निरीक्षण थे।

यह कोई अमूर्त मॉडल नहीं था जो जीवन पर थोपा गया हो। जीवन ने स्वयं मॉडल को प्रकट किया।

जो यहाँ वर्णित है, वह उन लोगों को सूक्ष्म या अविश्वसनीय लग सकता है जिन्होंने इसे नहीं जिया। पर शरीर इसे जानता है। तंत्रिका-तंत्र इसे जानता है। मन, यदि ईमानदार हो, इसे जानता है। यह विज्ञान के विरोध में खड़ा रहस्यवाद नहीं है, न जीवविज्ञान से कटी हुई मनोविज्ञान। यह ध्यान, ऊर्जा और चेतना का एकीकृत कार्य है—प्रत्यक्ष रूप से अनुभूत, समझाए जाने से बहुत पहले।

यदि यह सिद्धांत जैसा लगता है, तो केवल इसलिए कि भाषा देर से आती है।
सत्य पहले से वहाँ था, मौन में काम कर रहा था।
और उसी सत्य ने प्रेमयोगी को गढ़ा—विचार के रूप में नहीं, बल्कि होने के ढंग के रूप में।

जैसे-जैसे स्मरण गहराता गया, समय भी प्रेमयोगी के लिए अलग ढंग से व्यवहार करने लगा। कभी वह फैल जाता, कभी सिमट जाता, और कभी पूरी तरह लुप्त हो जाता। घंटे बिना जाने बीत सकते थे, या कुछ क्षण विशाल और पूर्ण लग सकते थे। आनंद शांत रूप से फैलता—न उत्तेजना के रूप में, न भावना के रूप में, बल्कि एक मौन पूर्णता के रूप में जिसे किसी अभिव्यक्ति की आवश्यकता नहीं थी। प्रेमयोगी ने अनुभव किया कि वह अब स्मरण की ओर नहीं बढ़ रहे थे। स्मरण अब उनके माध्यम से बह रहा था।

यह न तंद्रा थी, न पलायन। इंद्रियाँ खुली रहतीं। वे बुलाए जाने पर उत्तर दे सकते थे, कार्य पूर्ण कर सकते थे, और जीवन से जुड़ सकते थे। फिर भी भीतर कुछ स्थिर हो चुका था। ध्यान अब उत्तेजना की खोज में बाहर नहीं उछलता था। वह ठहर गया था। यह ठहराव उष्ण, जीवंत और सजग था। यही गोपी-समाधि थी—वह अवस्था जहाँ ध्यान स्वयं को भूल जाता है और प्रिय की ओर एक सतत प्रवाह बन जाता है, बिना प्रयास और बिना स्पष्टता खोए।

इस चरण में प्रेमयोगी ने वह समझा जो किसी पुस्तक ने नहीं सिखाया था: समाधि हमेशा मौन से जन्म नहीं लेती। कभी-कभी वह प्रेम से जन्म लेती है। जब प्रेम इतना पूर्ण हो जाता है कि प्रेमी विलीन हो जाए, तब जो शेष रहता है वह स्थिरता होती है—पर खाली स्थिरता नहीं। वह ऊष्मा, परिचय और सहजता से भरी स्थिरता होती है।

वृंदावन की गोपियों ने कृष्ण तक पहुँचने के लिए आँखें बंद नहीं कीं। उन्होंने उन्हें स्मरण करते-करते स्वयं को भूल दिया। उसी प्रकार प्रेमयोगी का मन संसार से नहीं हटा। वह एक अखंड ध्यान-प्रवाह में घुल गया, जो समस्त गतिविधि के नीचे शांत रूप से बहता रहा। प्रिय अब न बाहर था, न भीतर, न निकट, न दूर। वही गति बन गया था। विचार को रोका नहीं

गया; वह बनने से पहले ही पिघल गया। इच्छा को दबाने की ज़रूरत नहीं पड़ी; वह भक्ति में परिष्कृत हो गई। भावना को अभिव्यक्ति की आवश्यकता नहीं रही; वह चेतना में मुलायम हो गई।

बाहरी पृथक्करण बहुत पहले पूर्ण हो चुका था, पर भीतर अब एकता पूर्ण थी। जो लड़की कभी रूप में प्रकट हुई थी, वह एक क्षेत्र बन गई। वह क्षेत्र फैलता गया, यहाँ तक कि सब कुछ समाहित कर लिया। यही गोपी-समाधि का रहस्य है: प्रेम का विषय लुप्त हो जाता है, और प्रेम बिना दिशा के शेष रह जाता है। मन किसी छवि को धारण नहीं करता; वह स्वयं छवि बन जाता है। हृदय किसी व्यक्ति को याद नहीं करता; वह अस्तित्व को ही स्मरण करता है। और उस स्मरण में, स्मरण का बोध भी लुप्त हो जाता है।

दैनिक जीवन पहले की तरह चलता रहा। वे विद्यालय जाते, घर लौटते, पढ़ते, लोगों से मिलते और उत्तरदायित्व निभाते। फिर भी कुछ मूलभूत बदल चुका था। मन अब पूर्ति का पीछा नहीं करता था। पृष्ठभूमि की उपस्थिति पर्याप्त थी। कोई तात्कालिकता नहीं, कोई चंचलता नहीं, कोई आंतरिक सौदेबाज़ी नहीं। ध्यान बिना प्रयास के टिक गया।

कभी आंतरिक उपस्थिति कोमलता जैसी लगती। कभी छाती में हल्का-सा दर्द। कभी शरीर में शांत रूप से फैलती ऊष्मा। कभी-कभी वह बस तटस्थ, स्थिर और मौन रहती। उसकी तीव्रता स्वाभाविक रूप से घटती-बढ़ती, जैसे बदलते दृश्यों के पीछे की पृष्ठभूमि-प्रकाश। मन थका या रिक्त होने पर भी वह स्वयं लौट आती।

प्रेमयोगी ने देखा कि यह अवस्था उनके अध्ययन या सांसारिक विकास में बाधा नहीं डालती। उलटे, वह उन्हें सहारा देती है। अनावश्यक गति से मुक्त मन निरंतर एकाग्रता में सक्षम हो गया। वे दबाव से नहीं, रुचि से पढ़ते थे। अध्ययन थकाने के बजाय अवशोषक बन गया। ज्ञान गहराई से बैठता, सतही नहीं रहता। आंतरिक स्थिरता से निर्मित रिक्त स्थान स्वाभाविक रूप से समझ से भर गया, न कि विक्षेप से।

यह स्मरण ध्यान की माँग नहीं करता था। उसे संरक्षित या बनाए रखने की आवश्यकता नहीं थी। अनदेखा किए जाने पर भी वह बना रहता। साधारण भावनाएँ उपेक्षा में मुरझा जाती हैं; यह और स्पष्ट हो जाता था। यही इसका प्रमाण था। यह कल्पना नहीं थी, न स्मृति, न फंतासी। यह उपस्थिति थी।

प्रेमयोगी ने इसे ध्यान नहीं कहा। न इसे भक्ति नाम दिया। न इसे आध्यात्मिक माना। उन्होंने बस यह देखा कि मन को विश्राम का एक स्थान मिल गया है, और यह विश्राम परिस्थितियों पर निर्भर नहीं है। अच्छे दिन और कठिन दिन—दोनों इसके भीतर से बिना बाधा गुज़र जाते।

यह वस्तु-रहित भक्ति थी। न देवता, न छवि, न विश्वास, न अनुष्ठान। प्रेम ने अपनी यात्रा पूरी कर ली थी और निरंतरता में घुल गया था। जो खिंचाव कभी बाहर की ओर जाता था, वही अब चेतना की भूमि बन गया था।

यद्यपि एक ध्यान-वस्तु थी, वह कभी बाहरी नहीं थी। वह स्वाभाविक, अंतर्मुखी और स्वयं-उद्भूत थी। प्रारंभिक प्रेरणा भले ही किसी बाहरी जीवित उपस्थिति से आई हो, पर वह चरण संक्षिप्त था। बाहरी रूप केवल एक-दो वर्ष रहा। उसके बाद जो आया, वह कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था: आंतरिक छवि दशकों तक बिना प्रयास के बनी रही।

यह पारंपरिक भक्ति जैसा नहीं था, जहाँ व्यक्ति जीवन भर किसी बाहरी मूर्ति, प्रतीक या रूप पर निर्भर रहता है और उसे मन में जीवित रखने के लिए संघर्ष करता है। यहाँ दिशा उलट गई थी। बाहरी रूप विलीन हो गया, पर आंतरिक उपस्थिति और अधिक सशक्त, सूक्ष्म और निरंतर हो गई। जो शेष रहा, वह चित्र नहीं, बल्कि चेतना का एक जीवंत क्षेत्र था।

बाहरी देवता या मूर्ति गहन तल्लीनता स्थापित करने में सहायक हो सकते हैं। वे केवल कुंभक, तंद्रा-सदृश स्थिरता या तीव्र एकाग्रता और निवृत्ति के माध्यम से निर्विकल्प ध्यान के क्षण भी दे सकते हैं। पर वे गोपी-समाधि को जन्म नहीं दे सकते। उस अवस्था के लिए कुछ मूलतः भिन्न चाहिए—न अमूर्तता, न निराकार निषेध, बल्कि जीवित स्मरण में स्थित रस।

इसी कारण कथाओं में गोपियाँ उद्धव से जाने को कहती हैं। वे ज्ञान को नहीं, शुष्कता को अस्वीकार करती हैं। वे बुद्धि को नहीं, बल्कि उस बुद्धि को अस्वीकार करती हैं जो प्रेम में भीगी नहीं है। उद्धव उपदेश, वैराग्य और निराकार ध्यान लाते हैं—सत्य, शक्तिशाली और उच्च—पर उन लोगों के लिए अपूर्ण, जिन्होंने कृष्ण को विचार या मूर्ति के रूप में नहीं, बल्कि अपने ही अस्तित्व के भीतर एक जीवित उपस्थिति के रूप में स्थापित किया था।

गोपियों ने कृष्ण का केवल चिंतन नहीं किया था। उन्होंने उन्हें आत्मसात कर लिया था। उनका ध्यान-वस्तु बाहर नहीं था; वह उनके आंतरिक जीवन की संरचना बन चुका था। इसलिए उनका आनंद अमूर्तता से जन्मी स्थिरता से अधिक गहरा, अधिक उष्ण और अधिक पोषणकारी था। उनकी समाधि मौन रिक्तता नहीं थी; वह माँग-रहित पूर्णता थी।

प्रेमयोगी के मामले में भी वही सिद्धांत स्वाभाविक रूप से प्रकट हुआ। बाहरी रूप मिट गया। आंतरिक उपस्थिति बनी रही। जो आकर्षण से शुरू हुआ था, वह निरंतर स्मरण में परिपक्व हुआ। जो रस से शुरू हुआ था, वह भूमि बन गया। मन को लौटने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ा; वह स्वयं वहीं ठहर गया।

यही मूलभूत भेद है। रूप-आधारित ध्यान मन को शांत कर सकता है, पर प्रायः हृदय को शुष्क छोड़ देता है। गोपी-समाधि इसके विपरीत करती है: वह हृदय को इतना भर देती है कि मन स्वयं मौन हो जाता है। वह मौन ठंडा या निवृत्त नहीं होता। वह जीवन से संतृप्त होता है।

इसी कारण आंतरिक छवि बनी रही—स्मृति या कल्पना के रूप में नहीं, बल्कि चेतना के एक स्थिर क्षेत्र के रूप में। वह ध्यान की माँग नहीं करती थी। वह जीवन से प्रतिस्पर्धा नहीं करती थी। वह आगे आने वाली हर चीज़ को शांत रूप से सहारा देती रही।

इस चरण ने उन्हें अगले चरण के लिए मौन रूप से तैयार किया। ऊर्जा अब बाहर नहीं रिस रही थी। तंत्रिका-तंत्र ने स्थिरता सीख ली थी। हृदय ने आसक्ति के बिना खुला रहना सीख लिया था। चेतना ने बिना प्रयास के टिकना सीख लिया था।

इस चरण के अंत को कोई नाटकीय घटना चिह्नित नहीं करती। न कोई निष्कर्ष, न कोई घोषणा। स्मरण बस चलता रहा, अदृश्य रूप से गहराता हुआ, प्रतीक्षा करता हुआ।

रस ने टिकना सीख लिया था।

अध्याय 2: स्वप्न-सेतु का जागरण

अध्याय का केंद्र

यह अध्याय उस संक्षिप्त किंतु पूर्ण जागरण को दर्ज करता है जो न प्रयास से हुआ, न अभ्यास से, न किसी अनुशासन से, बल्कि भीतर की पूर्ण परिपक्वता से स्वतः घटित हुआ। यह एक स्वप्न-जैसी जाग्रत अवस्था में घटित सविकल्प समाधि का वर्णन है, जहाँ द्रष्टा और दृश्य का भेद विलीन हो गया और संसार ने स्वयं को एक एकीकृत चेतना के रूप में प्रकट किया। यह अध्याय पूरे इस पुस्तक-खंड की अचल धुरी है–इसके पहले जो कुछ भी है, वही इस क्षण की तैयारी है, और इसके बाद जो कुछ भी है, वह इसी के अवशेष से प्रस्फुटित होता है।

जब यह अवस्था आई, तब तक प्रेमयोगी कुछ भी खोज नहीं रहे थे। प्रेम पहले ही भीतर की ओर मुड़ चुका था, स्मरण स्थिर हो चुका था, और मन बिना बल के विश्राम करना सीख चुका था। बाहर से जीवन सामान्य था–पढ़ाई, चलना-फिरना, बोलना, दिनचर्या–पर भीतर कुछ शांत रूप से दीप्त हो चुका था। जागरण की कोई प्रत्याशा नहीं थी, न साक्षात्कार की कोई महत्वाकांक्षा, न यह भाव कि कुछ असाधारण होने वाला है।

और फिर भी, वह घटित हो गया।

न ध्यान में।
न प्रार्थना में।
न प्रयास में।

एक रात, ऐसी अवस्था में जो न पूरी तरह जाग्रत थी न पूरी तरह स्वप्न, प्रेमयोगी ने स्वयं को निचली घाटी में बहती नदी पर बने एक छोटे से पुल पर खड़ा पाया, जो उनके घर से लगभग एक किलोमीटर दूर था। वह स्थान परिचित था–साधारण जीवन में वे उसे अनेक बार पार कर चुके थे। पर अब परिचय का कोई भार नहीं था। दृश्य बिना भाव-रंग के, बिना स्मृति के, बिना अपेक्षा के प्रकट हुआ।

तभी, बिना किसी चेतावनी के, कुछ खुल गया।

कोई संक्रमण नहीं था। कोई ऐसी ऊर्जा-उठान नहीं थी जिसे वे पहचान सकें। कोई दर्शन स्वयं को घोषित नहीं कर रहा था। कोई आवाज़ नहीं थी। इसके स्थान पर स्वयं चेतना ही फैल गई–अचानक, पूर्णतः, और बिना किसी प्रतिरोध के। आनंद भावना की तरह नहीं उठा; वह अस्तित्व की तरह सर्वत्र भर गया। उसने उनके भीतर उन स्थानों को स्पर्श किया जिनमें कभी प्रकाश नहीं पहुँचा था, उन सीमाओं को घोल दिया जिनका कभी बोध भी नहीं हुआ था।

उन्हें अपने भीतर आनंद का अनुभव नहीं हुआ।
उन्हें स्वयं को आनंद के भीतर अनुभव हुआ।

उन्होंने पुल के नीचे बहती नदी की ओर देखा। जल वैसा ही था जैसा हमेशा रहा था—वही प्रवाह, वही ध्वनि, वही आकार। फिर भी वह केवल जल नहीं रह गया था। वह पुल भी था, नदी भी, और उसे देखने वाला भी—एक अविभाज्य यथार्थ के रूप में। कोई द्रष्टा दृश्य से अलग खड़ा नहीं था। दर्शन घटित हो रहा था, पर देखने वाला कोई नहीं मिल रहा था।

पुल भौतिक रूप में पुल ही था, पर आध्यात्मिक रूप से वह नदी से भिन्न नहीं था। और नदी उनसे भिन्न नहीं थी।

उन्होंने बाईं ओर सिर घुमाया और पर्वतीय ढलान की ओर देखा। बहुत पहले, भारी वर्षा के बाद वहाँ भूस्खलन हुआ था, जिसने धरती और वनस्पति को उधेड़ते हुए एक चौड़ा, कच्चा घाव छोड़ दिया था, जिससे नीचे बहती नदी आंशिक रूप से अवरुद्ध हो गई थी। वही ढलान अब भी वहाँ थी, संरचना में अपरिवर्तित, पर अर्थ में पूर्णतः रूपांतरित।

उघड़ी हुई मिट्टी, टूटी हुई वनस्पति, पर्वत में बना अंतराल—सब कुछ जीवित था। प्रतीकात्मक रूप से नहीं, शाब्दिक रूप से। प्रत्येक तत्व उसी उपस्थिति को वहन कर रहा था जो नदी में बह रही थी और उनके भीतर भी प्रवाहित हो रही थी। कोई निर्जीव पदार्थ नहीं था। कोई निष्क्रिय वस्तु नहीं थी। कोई पृष्ठभूमि नहीं थी। सब कुछ समान रूप से चेतना में सहभागी था।

फिर उन्होंने दृष्टि ऊपर सूर्य की ओर उठाई।

सूर्य वैसा ही था जैसा हमेशा रहा था—दीप्त, दूरस्थ, शक्तिशाली। फिर भी उसकी दीप्ति न नदी की झिलमिलाहट से अधिक थी, न पर्वत की स्थिरता से ऊँची, न पुल की शांत दृढ़ता से श्रेष्ठ। प्रकाश सर्वत्र था, समान रूप से वितरित। कुछ भी ऊँचा नहीं था। कुछ भी नीचा नहीं था। कुछ भी पवित्र या अपवित्र नहीं था। सब कुछ समान रूप से दीप्त था।

उस क्षण श्रेणीक्रम ढह गया।

सूर्य नदी से ऊपर नहीं था।
पर्वत पुल से ऊपर नहीं था।
चेतना पदार्थ से ऊपर नहीं थी।

सभी भेद विलीन हो गए—विचार के माध्यम से नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष दर्शन से।

यह सम्पूर्ण अनुभव केवल कुछ सेकंडों तक चला–शायद पाँच, शायद दस। पर उस क्षणिक अवधि में प्रेमयोगी ने वह जिया जो अनंत जैसा लगा। अवधि का कोई बोध नहीं था। समय स्वयं में मुड़ गया था। स्थान निकटता में सिमट गया था। आनंद असीम था–तीव्र होने के कारण नहीं, बल्कि इसलिए कि उसका कोई विरोध नहीं था।

वे प्रसन्न नहीं थे।
वे पूर्ण थे।

भय नहीं उठा क्योंकि उसके टिकने की कोई जगह नहीं थी। इच्छा लुप्त हो गई क्योंकि कुछ भी अनुपस्थित नहीं था। खोज ढह गई क्योंकि कुछ भी कहीं और नहीं था। प्रकाश और अंधकार शत्रु नहीं रहे। प्रेम और घृणा बिना विरोध के साथ-साथ अस्तित्व में थे। वही चेतना एकीकृत को कोमलता के रूप में और विभाजित को आतंक के रूप में प्रकट हो रही थी।

जो कुछ भी कभी अनुभव किया जा सकता था, वह मानो एक साथ उपस्थित था–अराजकता के रूप में नहीं, सामंजस्य के रूप में।

वे बिना विचार के जानते थे कि यह मन-ऊर्जा और चेतन-दीप्ति की सर्वोच्च संभव अभिव्यक्ति है। ऐसा कोई भाव नहीं था कि इससे भी कुछ बड़ा शेष है। इससे परे कुछ कल्पित नहीं किया जा सकता था–इसलिए नहीं कि कल्पना विफल हो गई थी, बल्कि इसलिए कि तृप्ति पूर्ण थी।

जब सुबह हुई, तो वे ऐसे नहीं जागे जैसे कोई स्वप्न से लौटता है।
वे ऐसे जागे जैसे कोई घर लौटता है।

कोई उत्तेजना नहीं थी, कोई उद्घोषणा नहीं थी, बोलने की कोई चाह नहीं थी। इसके स्थान पर एक गहन संतोष उनके अस्तित्व में बस गया–मानो अनेक जन्मों का कार्य शांत रूप से पूर्ण हो गया हो। वे दिन भर बालसुलभ सरलता के साथ चलते रहे। न संभालने के लिए कोई तनाव था, न जताने के लिए कोई महत्वाकांक्षा, न बनाए रखने के लिए कोई छवि।

उन्होंने अच्छा बनने का प्रयास नहीं किया।
अच्छाई स्वाभाविक रूप से बहने लगी।

उन्होंने आध्यात्मिक बनने का प्रयास नहीं किया।
सब कुछ पवित्र लगने लगा।

वे पूर्णतः सामाजिक थे, फिर भी भीतर से मुक्त। पूर्णतः मानवीय, फिर भी उलझन से अछूते। अहं अनुपस्थित था, फिर भी उपस्थिति सशक्त थी। व्यक्तित्व हल्का था, पर

अधिकार मौन रूप से स्वयं को वहन करता था। लोग उनके आसपास शांति अनुभव करते थे, बिना जाने क्यों।

लगभग तीन वर्षों तक इस झलक के बाद, सात्त्विक गुण सहज रूप से प्रकट होते रहे। इच्छा स्थिर प्रेम में रूपांतरित हो गई। क्रोध स्पष्टता में परिष्कृत हुआ। लोभ पर्याप्तता में घुल गया। अभिमान कृतज्ञता में नरम पड़ गया। ईर्ष्या को कोई आधार नहीं मिला।

उनका मन तीक्ष्ण था, पर कोमल। केंद्रित था, पर शिथिल। वे कम बोलते थे, किसी का न्याय नहीं करते थे, और बिना विश्लेषण के बहुत कुछ समझ लेते थे। कभी-कभी ज्ञान प्रक्रिया के बिना ही उभर आता था। कभी वे घटनाओं की दिशा उनके घटित होने से पहले ही भाँप लेते थे।

गुरु और सहचरी के तांत्रिक प्रतीक भीतर शांत रूप से झिलमिलाते थे—कल्पना के रूप में नहीं, जीवित एकता के रूप में। यौन ऊर्जा लुप्त नहीं हुई थी; वह रूपांतरित हो चुकी थी। कामना अब विसर्जन नहीं खोजती थी। वह ऊष्मा, उपस्थिति और गहराई के रूप में विकीर्ण होती थी।

यह अवस्था सदा के लिए नहीं रही।

धीरे-धीरे तीव्रता कम हुई। उस झलक की स्मृति मृदु हुई। साधारण मानसिक पैटर्न लौट आए —यद्यपि पहले जैसे पूर्णतः नहीं। महासागर पीछे हटा, पर तटरेखा स्थायी रूप से बदल चुकी थी। उस अवस्था का स्वाद गहराइयों में छिपा रह गया, और आगे आने वाली हर चीज़ को मौन रूप से दिशा देता रहा।

जो अपरिवर्तनीय था, वह अनुभव स्वयं नहीं था, बल्कि वह ज्ञान था जो उसने पीछे छोड़ दिया।

प्रेमयोगी ने जान लिया था कि प्रेम, जब बिना ढहे टिकता है, तो समाधि बन जाता है। और समाधि, जब प्रेम से जन्म लेती है, तो एक ऐसी सुगंध छोड़ जाती है जो कभी पूरी तरह मिटती नहीं।

यह कृष्ण-लिविंग का चौथा द्वार था।
न खेल।
न आकर्षण।
न विश्वास के रूप में भक्ति।
बल्कि अवशोषण—जहाँ स्मरण पहचान बन जाता है, और प्रिय स्वयं अस्तित्व में विलीन हो जाता है।

इस बिंदु के बाद प्रेमयोगी फिर कभी केवल सतह पर नहीं जी सके। उन्होंने एक बार गहराई देख ली थी। और भले ही वह भुला दी जाए, वह भीतर से निरंतर पुकारती रहती है—शांत, स्थिर—यह स्मरण कराते हुए कि सर्वोच्च समाधि प्रेम के बिना मौन नहीं है, बल्कि वह प्रेम है जो इतना पूर्ण हो कि उसमें मौन भी विलीन हो जाए।

अध्याय 3 – शेष रह गई सुगंध

यह अध्याय उस अवस्था का वर्णन करता है जो पूर्ण अवशोषण की एक झलक के बाद आती है–न गिरावट के रूप में, न हानि के रूप में, बल्कि समाकलन के रूप में। गोपी-समाधि अपना कार्य कर लेने के बाद जीवन पुनः साधारण रूपों में लौट आता है, पर अब वह केवल सतह पर टिकता नहीं है। जो क्षीण होता है, वह तीव्रता है, सत्य नहीं। जो शेष रहता है, वह एक सुगंध है–सूक्ष्म, स्थिर और अपरिवर्तनीय–जो बिना प्रयास के दृष्टि, आचरण और समझ को पुनर्रचित कर देती है। यह अध्याय इस बात की खोज करता है कि प्रेम से जन्मी समाधि कैसे शांत बोध में स्थिर होती है, और क्यों ऐसा बोध मन के परिचित गतियों में लौट आने पर भी नष्ट नहीं हो सकता।

जब शिखर बीता, तो वह ढहा नहीं।
वह पीछे हटा।

कोई नाटकीय पतन नहीं हुआ, कोई अचानक भ्रम में वापसी नहीं हुई, किसी बहुमूल्य वस्तु के खो जाने का भाव नहीं आया। जो दीप्ति कभी सब कुछ भर देती थी, वह विलुप्त नहीं हुई; वह मृदु हो गई। महासागर सूखा नहीं–वह पीछे हटा, और तट को सदा के लिए परिवर्तित कर गया। प्रेमयोगी एक सुबह यह अनुभव करते हुए नहीं जागे कि कुछ छिन गया है। वे साधारण भाव के साथ जागे, पर साधारण अब उथला नहीं रहा था।

जागरण की उस झलक के बाद काफी समय तक जीवन ऐसी सहजता से बहता रहा जो लगभग बालसुलभ थी–बालिश नहीं, बल्कि सरल। वे दिनों में बिना आंतरिक घर्षण के चलते रहे। निर्णय स्वाभाविक रूप से उभरते थे। वाणी न्यून थी, पर सटीक। मौन रिक्त नहीं, पूर्ण लगता था। किसी अवस्था की रक्षा करने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि कुछ भी नाजुक नहीं लग रहा था।

लगभग तीन वर्षों तक सात्त्विक गुण बिना प्रयास के प्रकट होते रहे।
न अनुशासन के रूप में।
न सद्‌गुण के रूप में।
न किसी इरादे के रूप में।

इच्छा बाहर की ओर खींचना छोड़कर ऊष्मा में मृदु हो गई। क्रोध लुप्त नहीं हुआ, पर तुरंत स्पष्ट होकर प्रतिक्रिया बनने से पहले ही घुल जाता था। लोभ की तात्कालिकता समाप्त हो गई। अभिमान कृतज्ञता में पिघल गया। ईर्ष्या को टिकने की कोई भूमि नहीं मिली। ये उपलब्धियाँ नहीं थीं। ये सह-परिणाम थे–उस मन की स्वाभाविक मुद्रा, जो एक बार पूरी तरह स्वयं में विश्राम कर चुका था।

प्रेमयोगी स्वयं को परिवर्तित नहीं मानते थे। वे किसी ज्ञान का दावा नहीं करते थे। वास्तव में, वे आंतरिक विषयों पर पहले से भी कम बोलते थे। जो देखा गया था, वह व्याख्या नहीं माँगता था। उसने बस यह बदल दिया था कि वस्तुएँ कैसे ग्रहण की जाती हैं।

लोग कुछ अनुभव करते थे, यद्यपि कम ही उसे नाम दे पाते थे। उनकी उपस्थिति शांत थी, पर पलायनशील नहीं। वे सामाजिक थे, पर उलझे हुए नहीं। संलग्न थे, पर प्रेरित नहीं। सजग थे, पर बोझिल नहीं। उनका मौन वाणी से अधिक भार लिए होता था—रहस्यमय होने के कारण नहीं, बल्कि अति-धीमी गति के कारण। वे पूरी तरह सुनते थे। सरलता से उत्तर देते थे। न ध्यान आकर्षित करने की प्रतिस्पर्धा थी, न उससे हटने की।

यह अवस्था उन्माद नहीं थी।
यह संरेखण थी।

धीरे-धीरे, लगभग अगोचर रूप से, दीप्ति की तीक्ष्ण धार और भी मृदु हुई। वह सहज स्पष्टता जो कभी हर क्षण में व्याप्त थी, धीरे-धीरे कम होने लगी। साधारण मानसिक पैटर्न लौट आए—आक्रामक रूप से नहीं, पूर्ण रूप से नहीं, बल्कि धीरे-धीरे, जैसे परिचित अतिथि उस घर में लौट आए हों जो उनकी अनुपस्थिति में नवीनीकृत हो चुका था।

विचार अपने परिचित लय में चलने लगे। पसंद-नापसंद फिर उभरीं। छोटी-छोटी झुँझलाहटें आईं। थकान लौटी। शरीर ने अपनी आवश्यकताएँ फिर जताईं। मन योजना बनाने, तुलना करने, स्मरण करने लगा। इनमें कुछ भी असफलता जैसा नहीं लगा। यह स्वाभाविक था।

जो नहीं लौटा, वह अज्ञान था।

तीव्रता के क्षीण होने पर भी कुछ अपरिवर्तनीय घट चुका था। प्रेमयोगी अब अपने विचारों पर पूर्ण विश्वास नहीं कर सकते थे। वे भावनाओं को पहचान नहीं समझ सकते थे। वे भूमिकाओं, भय या महत्वाकांक्षाओं में पूरी तरह खो नहीं सकते थे। केंद्र स्थायी रूप से खिसक चुका था।

अब यह जाना जा चुका था—बौद्धिक रूप से नहीं, दार्शनिक रूप से नहीं, बल्कि अनुभवात्मक रूप से—कि मौन गति का अभाव नहीं है, और गति मौन की हानि नहीं है। उस पूर्व झलक ने कुछ सरल और अंतिम दिखा दिया था: जो कुछ भी उठता है, वह एक ऐसे क्षेत्र में उठता है जो पहले से ही पूर्ण है।

यह बोध जीवन से तर्क नहीं करता था।
वह उसके साथ चलता था।

जो आंतरिक प्रतिमा कभी द्वार की तरह कार्य करती थी, वह पूरी तरह लुप्त नहीं हुई। वह सूक्ष्म रूप में बनी रही—पृष्ठभूमि की तरह—न अब सजीव, न मांग करने वाली, न चुंबकीय। वह ध्यान को खींचती नहीं थी। वह आकांक्षा को उकसाती नहीं थी। वह स्मरण की माँग नहीं करती थी।

फिर भी, वह गई नहीं थी।

वह वायु में फैली सुगंध की तरह थी—अधिकांश समय अनदेखी, पर अनुभव होने पर अचूक। कभी वह छाती में ऊष्मा के रूप में प्रकट होती। कभी शांत कोमलता के रूप में। कभी किसी संग-साथ की क्षीण अनुभूति के रूप में। वह अब व्यक्तिगत नहीं रही थी, न स्त्री न पुरुष, न रूप से बँधी। वह मनोवैज्ञानिक से अधिक प्रतीकात्मक हो गई थी।

यह महत्वपूर्ण था।

क्योंकि उस सूक्ष्म पृष्ठभूमि का बने रहना एक गहरे सत्य को दिखा रहा था: समाधि कोई परिस्थितिजन्य घटना नहीं थी। वह एक पहचान थी। और पहचान, एक बार पूर्ण हो जाने पर, टिकाए जाने की मोहताज नहीं होती।

सरल शब्दों में, जिन साधनों के माध्यम से प्रेमयोगी ने आत्म-साक्षात्कार का अनुभव किया था, वे लुप्त नहीं हो सकते थे। कैसे हो सकते थे? मन आनंद के स्रोत को नहीं छोड़ता; वह उससे जुड़ जाता है। वह आंतरिक प्रतिमा विलुप्त नहीं हुई थी; वह रूपांतरित हो गई थी। जो कभी एक विशिष्ट मानसिक उपस्थिति के रूप में दिखती थी, वह अद्वैत में विलीन हो गई थी। वह सब कुछ के समकक्ष हो गई थी—संसार के, वस्तुओं के, मौन के, और यहाँ तक कि स्वयं की गहनतम अनुभूति के भी।

पहले, उस प्रतिमा में एक सूक्ष्म आकर्षण था, एक हल्का भेद। अब कोई भेद शेष नहीं था। वह किसी प्रकार की भावना की क्षीणतम छाया भी उत्पन्न नहीं करती थी—न काम, न आसक्ति, न तृष्णा, न प्रतिरोध। वह विचार को उकसाती नहीं थी, न कल्पना को आमंत्रित करती थी। वह कुछ माँगती नहीं थी और बदले में कुछ देती भी नहीं थी।

वह शुद्ध उपस्थिति बन गई थी।

उस शुद्धता में वह अब "अन्य" के रूप में अनुभव नहीं होती थी। वह न स्मरण की वस्तु थी, न धारण की। वह बस वही थी जो है। पूर्ण अद्वैत में रूपांतरित होकर उसने विचलित करने की शक्ति खो दी—और वही खोकर उसने पवित्रता प्राप्त कर ली। जो कभी द्वार था, वह अब स्वयं भूमि बन गया था।

यह हानि नहीं थी।
यह अभिषेक था।

प्रतिमा इसलिए नहीं मिटी कि वह दुर्बल हुई, बल्कि इसलिए कि वह अलग खड़ी नहीं रही। वह दैवी हो गई—पूजा की वस्तु के रूप में नहीं, बल्कि मांग से परे एक अवस्था के रूप में। मौन, पूर्ण और आत्मनिर्भर।

अब प्रेमयोगी समझ चुके थे कि प्रेम से जन्मी समाधि, प्रयास से जन्मी समाधि से मूलतः भिन्न होती है। प्रयास-आधारित अवशोषण संरक्षण पर निर्भर होता है। वह तभी तक जीवित रहता है जब तक अनुशासन, तकनीक या इच्छाशक्ति सक्रिय रूप से लागू रहती है। जैसे ही प्रयास शिथिल होता है या ध्यान कमजोर पड़ता है, अवस्था ढह जाती है। प्रेम-आधारित अवशोषण ऐसा नहीं होता। वह धारण पर निर्भर नहीं करता। वह समझ छोड़ जाता है। अवस्था स्वयं भले ही क्षीण हो जाए, बोध शेष रहता है।

यह अंतर इसलिए है क्योंकि प्रयास आनंद में पूरी तरह नहीं घुलता, जैसे प्रेम घुलता है। प्रयास मौन, नियंत्रण और ऊँचाई दे सकता है, पर प्रेम पूर्णता देता है। बलपूर्वक विधियों से प्राप्त तांत्रिक समाधि वास्तव में आत्म-साक्षात्कार दे सकती है, पर उसकी बनावट भिन्न होती है। वह सटीक, तकनीकी और शक्तिशाली होती है, पर उसमें प्रेम-जनित समाधि की सहज मिठास और लौकिक सहजता नहीं होती। उसे अक्सर एकांत, दीर्घ परिपक्वता और सतत रूपांतरण की आवश्यकता होती है। तृप्ति धीरे आती है।

इसके विपरीत, प्रेम-समाधि पूर्णता के रूप में आती है। ऐसा लगता है जैसे सब कुछ पहले ही प्राप्त हो चुका हो। स्थिरता को रक्षा की आवश्यकता नहीं होती। पूर्णता दैनिक जीवन के साथ स्वाभाविक रूप से सह-अस्तित्व रखती है। लौकिक गति, अराजकता और दायित्वों के बीच भी, वर्षों तक बिना प्रयास के एक गहन शांति बनी रहती है। न कुछ सुधारने की आवश्यकता होती है, न कुछ बचाने की।

यद्यपि आत्म-साक्षात्कार का अनुभव स्वयं सार में समान होता है, प्रेम-जनित समाधि में विशेषता का जो स्वाद अनुभव होता है, वह हृदय की अधिक भागीदारी से उपजता प्रतीत होता है। जागरण का केंद्र सत्य को नहीं बदलता, पर यह अवश्य बदल देता है कि वह सत्य कैसे जिया और स्मरण किया जाता है।

शास्त्रों में हृदय को अक्सर गुहा कहा गया है—वह गुफा जहाँ आत्मा निवास करती है। यह केवल काव्य नहीं है। जिन योगियों का मार्ग प्रेम, रस और भक्ति से होकर खुलता है, उनके लिए हृदय प्राथमिक द्वार बन जाता है। वहाँ घटित जागरण ऊष्मा, निकटता, माधुर्य और आश्रय का भाव लिए होता है। अद्वैत के उदय के बाद भी वह व्यक्तिगत लगता है, पर

आसक्ति नहीं बनता; पवित्र लगता है, पर दूरस्थ नहीं होता। आत्मा घर के रूप में जानी जाती है।

हठयोगी और प्रयास-आधारित साधकों के लिए आरोहण प्रायः मस्तिष्क के सहस्रार में पूर्ण होता है। वहाँ साक्षात्कार विशालता, दीप्ति, स्पष्टता और शक्ति के रूप में प्रकट होता है। मन प्रकाश में विलीन हो जाता है। अनुभव सटीक, विस्तृत और निरपेक्ष होता है। तृप्ति पूर्ण होती है, पर जब तक हृदय से मृदु न हो, उसकी अभिव्यक्ति शुष्क या अलिप्त रह सकती है।

दोनों मार्ग एक ही सत्य तक पहुँचते हैं। दो मुक्ति नहीं हैं। पर प्रवेश-द्वार पश्चात्काल को रंग देता है। प्रेम-समाधि सुगंध छोड़ती है। हठ-समाधि दीप्ति छोड़ती है। एक गाती है; दूसरी चमकती है।

संभवतः इसी कारण भक्ति परंपराएँ हृदय को प्रभु का धाम कहती हैं, और योगिक परंपराएँ शिखर को मुक्ति का आसन। यह विरोध नहीं, बल्कि बलाघात का अंतर है। आत्मा सर्वत्र है, पर वह उस द्वार के अनुसार स्वयं को प्रकट करती है जिससे प्रवेश हुआ हो।

प्रेम-योगी के लिए हृदय साक्षात्कार का सिंहासन बनता है।
हठ-योगी के लिए मस्तक स्वतंत्रता का आकाश बनता है।
और जब दोनों एक हो जाते हैं, तो जागरण केवल सत्य नहीं, पूर्ण भी हो जाता है।

पतंजलि-योग आधारित तांत्रिक समाधि प्रेमयोगी को तकनीकी और पूर्वानुमेय प्रतीत हुई—बाह्य भावनात्मक परिस्थितियों, संबंधों या अनुकूल दशाओं के बिना भी साध्य। भूमि पहले से तैयार हो तो वह अपेक्षाकृत शीघ्र फल देती है। उसे व्यवस्थित रूप से अपनाया जा सकता है और भौतिक बुद्धि से समझा जा सकता है। पर प्रेम-समाधि सामान्य मन को अविश्वसनीय लगती है। वह विधि को चुनौती देती है। उससे पहले कोई जानबूझकर अभ्यास नहीं होता। किसी तकनीक को श्रेय नहीं दिया जा सकता।

बाहरी दृष्टि से यह हास्यास्पद लगता है। लोग मानते हैं कि प्रेम, भक्ति या समर्पण जैसे शब्दों को बिना विधि दोहराने से कुछ नहीं होता। वे जीवन भर जप और आकांक्षा में लगे लोगों को देखते हैं, पर कोई रूपांतरण नहीं देखते। वे यह चूक जाते हैं कि प्रेम-समाधि पुनरावृत्ति या विश्वास से उत्पन्न नहीं होती। वह तभी उत्पन्न होती है जब प्रेम बिना ढहे परिपक्व हो जाए—जब आकर्षण उपभोग के बिना स्थिर रहे, जब तृष्णा उपस्थिति में पक जाए, और जब प्रयास अनावश्यक हो जाए।

इसी कारण प्रेम-समाधि सिखाई नहीं जा सकती, न उसकी नकल की जा सकती है, न उसे बलपूर्वक बुलाया जा सकता है। वह केवल घटित होने के बाद पहचानी जाती है।

प्रेमयोगी ने यह भी देखा कि यह मार्ग प्रायः क्यों गलत समझा जाता है। प्रेम से जन्मी समाधि योजना से नहीं आती। वह आंतरिक परिपक्वता, पूर्व संस्कारों, समय और अनुकूल बाह्य परिस्थितियों के दुर्लभ संयोग पर निर्भर करती है। ऐसा संयोग बहुत कम लोगों को मिलता है। कृष्ण जैसे व्यक्तित्व इसलिए स्मरण किए जाते हैं कि उन्होंने कोई पद्धति नहीं सिखाई, बल्कि एक ऐसा परिणाम जिया जिसे अन्य लोग दोहरा नहीं सके।

जब करोड़ों में से कोई एक व्यक्ति बिना दृश्य विधि के ऐसी पूर्णता को प्राप्त करता है, तो बहुत से लोग अंधानुकरण करने लगते हैं। वे अनुशासन, तकनीक और संरचना को त्याग देते हैं, यह मानकर कि प्रेम ही उन्हें पार करा देगा। पर वे एक मूल सत्य चूक जाते हैं: कृष्ण विधि का निषेध नहीं कर रहे थे—वे उससे परे जा चुके थे। जो दूसरों को सहज दिखता है, वह उन गहराइयों से समर्थित होता है जिन्हें वे देख नहीं पाते।

प्रेम-समाधि की नकल नहीं की जा सकती। उसे चाहा नहीं जा सकता। अनुकरण से बुलाया नहीं जा सकता। आंतरिक तैयारी के बिना वही प्रेम-भाषा केवल भावना, कल्पना या आश्रय-निर्भरता बन जाती है। प्रणालियाँ और तकनीकें इसलिए हैं कि प्रेम अपर्याप्त है—ऐसा नहीं—बल्कि इसलिए कि अधिकांश मन अभी इतने परिपक्व नहीं हैं कि प्रेम को बिना ढहे धारण कर सकें।

इसी कारण शास्त्र मार्ग, साधनाएँ और अनुशासन देते हैं। वे अनुग्रह के विकल्प नहीं हैं; वे उसकी तैयारी हैं। जब तैयारी पूर्ण होती है, अनुग्रह बिना चेतावनी के आ सकता है। और जब वह आता है, विधि स्वाभाविक रूप से छूट जाती है—जैसे नदी पार करने के बाद नाव छूट जाती है।

कृष्ण-सदृश समाधि दुर्लभ है, इसलिए नहीं कि प्रेम दुर्लभ है, बल्कि इसलिए कि पूर्णता दुर्लभ है। जो लोग केवल फूल देखते हैं और मिट्टी की उपेक्षा करते हैं, वे चमत्कार को नियम समझ बैठते हैं।

समाधि-संयोग के बाद मन अपने स्रोत को कभी नहीं भूलता। जैसे नदी किनारों में लौट आए, पर महासागर को नहीं भूलती।

निस्संदेह, जीवन चलता रहा। दायित्व बढ़े। जटिलताएँ लौटीं। संसार ने फिर सहभागिता माँगी। संबंध, कार्य, अनिश्चितता और सामाजिक घर्षण पुनः उभरे। प्रेमयोगी उनसे अछूते

नहीं रहे। उन्होंने पूर्ण रूप से भाग लिया। कभी-कभी संघर्ष किया। कभी गलत आकलन किया। फिर सीखा।

पर संघर्ष अब अस्तित्वगत नहीं लगा।

असफलता पहचान को नहीं हिलाती थी। सफलता उसे फुलाती नहीं थी। प्रशंसा बिना चिपके गुजर जाती थी। आलोचना गहराई से घायल नहीं करती थी। भय आता था, पर जड़ नहीं बनाता था। आनंद आता था, पर मदहोश नहीं करता था। दोलन चलता रहा, पर उसका केंद्र स्थिर हो चुका था।

यही गोपी-समाधि का वास्तविक फल था।
न दर्शन।
न आनंद।
न शक्ति।
बल्कि दिशा।

बाद में, जब प्रेमयोगी शास्त्रों, शिक्षाओं और दर्शनों से मिले, तो उनके प्रतिध्वनियाँ तुरंत पहचान लीं। उन्होंने देखा कि कितनी परंपराएँ इस समाकलन-चरण का वर्णन करने का प्रयास करती हैं–कि जागरण के बाद स्थिरीकरण आवश्यक है, कि अंतर्दृष्टि को जीवन में उतरना चाहिए, कि मौन को चलना सीखना चाहिए।

लौकिक जीवन में नैतिक आचरण, सत्यता, मानवीयता, संयम और सरलता की सलाह–all grounding methods–ये सभी जागरण के बाद अर्थपूर्ण होते हैं, पहले नहीं। स्थिरीकरण आरंभिक बिंदु नहीं है; वह अंतर्दृष्टि के बाद आने वाला स्थायी चरण है। जिसने अभी जागरण नहीं छुआ, उसे पहले उठना होगा, ऊँचाई, तीव्रता और विस्तार को छूना होगा। तभी स्थिरीकरण का अर्थ होगा।

जागरण से पहले किसी से विनम्र, संयमी और सरल बने रहने को कहना ऐसा है जैसे ज़मीन पर पड़े व्यक्ति से सदा नीचे ही रहने को कहना। यदि कोई कभी उठे ही नहीं, तो क्षितिज कब देखेगा? जागरण के लिए आरोहण आवश्यक है–जीवन, संसार, संबंध, महत्वाकांक्षा, संघर्ष, सौंदर्य, टकराव, दायित्व और शक्ति से पूर्ण सहभागिता–पर सजगता और मानवीयता के साथ। यह आरोहण भोग नहीं है; यह चेतना के साथ अन्वेषण है।

यहाँ एक व्यापक भ्रांति है। सरलता, संन्यास और सहज जीवन के शास्त्रीय उपदेशों को अक्सर सार्वभौमिक मान लिया जाता है। वे नहीं हैं। ऐसे उपदेश जीवन के उत्तर चरण के हैं। पहले विस्तार आता है; फिर संयम। पहले कृष्ण-लिविंग; अंत में राम-लिविंग।

कृष्ण राम के रूप में आरंभ नहीं हुए। यदि कृष्ण ने कंस, शकटासुर, बकासुर आदि दैत्यों का सामना कर उन्हें वश में न किया होता–यदि उन्होंने इंद्र को चुनौती न दी होती, मिथ्या अधिकार को भंग न किया होता, कठोर संरचनाएँ न तोड़ी होतीं–तो व्यवस्था कैसे लौटती? यदि उन्होंने राजनीति में प्रवेश न किया होता, पांडवों का साथ न दिया होता और कौरव-प्रणाली को न ढहाया होता, तो समाज में न्याय कैसे लौटता? ऐसे संलग्नता के बिना सामान्य लोग अपने कर्तव्यों को निभाने में सुरक्षित कैसे महसूस करते?

कृष्ण की लौकिकता आध्यात्मिकता से पतन नहीं थी; वह उसकी आवश्यक अभिव्यक्ति थी। शक्ति, संघर्ष, रणनीति और शासन के साथ उनका जुड़ाव कर्मयोग था, भोग नहीं। अराजकता पर विजय के बाद ही शांति अर्थपूर्ण हो सकती है।

इसलिए जागरण समय से पहले के संयम से नहीं जन्मता। वह सजगता के साथ पूर्ण सहभागिता से जन्मता है। विनम्रता तभी प्रामाणिक होती है जब शक्ति को जाना गया हो। संन्यास तभी वास्तविक होता है जब स्वामित्व को जाना गया हो। मौन तभी गहन होता है जब पूर्ण रूप से बोला जा चुका हो।

इस क्रम को उलटना जीवन-चरणों को गड़बड़ाना है।
पहले उठना होता है।
फिर लौटना होता है।
वह लौटना राम है।
वह उठना कृष्ण है।

प्रेमयोगी भी मानव-जीवन और सामाजिक दायित्व के क्षेत्र में लगभग धकेले गए–व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा से नहीं, बल्कि स्वयं कृष्ण-तत्व से। यह चुनी हुई भूमिका नहीं थी; असंतुलन जहाँ भी दिखा, वहाँ यह स्वाभाविक रूप से उभरी। चाहे वह मोहन की उच्छृंखल ऊर्जा को मानवीयता के साथ संरेखित करना हो, या विद्यालय के वर्षों में संपर्क-रहित प्रेम जीना हो, या जाति अथवा आर्थिक स्थिति के आधार पर घृणा अपनाने से इंकार करना–इसके स्थान पर समानता और उन लोगों के प्रति अधिक ऊष्मा से जीना जिन्हें समाज ने नीचे रखा, जैसे कृष्ण ने सुदामा के साथ किया–उनकी प्रतिक्रियाएँ वैचारिक नहीं, सहज थीं।

यही पैटर्न आगे भी चला। विश्वविद्यालय जीवन में अराजकता और हिंसक रैगिंग के बीच उन्होंने संयम और विवेक लाने का प्रयास किया। पेशेवर जीवन में, जब अधीनस्थों के प्रति कठोर व्यवहार देखा, तो उसे मृदु करने का शांत प्रयास किया। सेवा-प्रदाय और संसाधन-उपयोग में गुणवत्ता, संरक्षण और मानवीय श्रम के सम्मान पर बल दिया। वे न सुधारक बने, न उपदेशक। वे बस, बार-बार, उसी प्रकार प्रत्युत्तर देते रहे जैसे कृष्ण देते हैं–जहाँ असंतुलन कठोर होने लगता है, वहाँ संतुलन पुनः स्थापित करना।

हर क्षेत्र में उन्होंने बिना किसी घोषणा के अपनी भूमिका निभाई। भूमिका बदली, परिवेश बदला, पर सिद्धांत वही रहा।

फिर भी, शास्त्रों में मिली कोई भी व्याख्या उस सरलता से पूर्णतः मेल नहीं खाती थी, जैसी जीवन में प्रत्यक्ष रूप से घटित हुई। शास्त्र किसी अर्थ में प्राचीन केस-स्टडी हैं–विभिन्न समयों, संस्कृतियों और बाह्य परिस्थितियों में दर्ज। उनके रूप वर्तमान युग के पैटर्न को पूर्णतः प्रतिबिंबित नहीं कर सकते। जो स्थिर रहता है, वह रूप नहीं, बल्कि उसके नीचे का सिद्धांत है।

सिद्धांत सरल है: पहले इतना ऊँचा उठना होता है कि आकाश की झलक मिल जाए, और फिर धरातल पर टिकना सीखना होता है। उस आरोहण के बिना स्थिरीकरण जड़ता बन जाता है। और स्थिरीकरण के बिना आरोहण अस्थिरता बन जाता है। जीया हुआ अनुभव इस संतुलन को किसी भी ग्रंथ से अधिक स्पष्ट कर देता है।

किसी शास्त्र ने नहीं बताया कि सत्य मृदु रूप से क्षीण होता है।
किसी शिक्षा ने नहीं कहा कि तीव्रता खोना सत्य खोना नहीं है।
किसी दर्शन ने नहीं समझाया कि वापसी भी आरोहण जितनी ही पवित्र है।

फिर भी, इनके संकेत अवश्य थे–और अनेक संबंधित प्रश्नों के भी–पर वे कभी इतने प्रत्यक्ष, इतने आश्वस्त करने वाले या इतने पूर्ण नहीं थे जितना स्वयं अनुभव।

ये सब प्रत्यक्ष रूप से जाने गए।

महासागर पीछे हटा।
पर तट सदा के लिए बदल गया।

इस बिंदु के बाद प्रेमयोगी फिर कभी केवल सतह पर नहीं जी सके। चाहे ध्यान भटका हो, चाहे थकान हो, चाहे साधारण चिंताओं में उलझन हो–भीतर कुछ स्थिर बना रहा। वह पहचान नहीं माँगता था। वह निष्ठा नहीं चाहता था। वह बस था।

यह लीला से परे कृष्ण-लिविंग था।
न खेल।
न आकर्षण।
न कथा।
न वह भक्ति भी, जैसी सामान्यतः समझी जाती है।

लीला अपना कार्य पूर्ण कर पीछे हट चुकी थी। जो शेष था, वह भूमि थी—न गति, न मिठास, न तीव्रता, बल्कि गहराई। न उत्तेजना, बल्कि स्थिरता। न संयोग, बल्कि अपनापन।

प्रेम ने अपना कार्य कर लिया था।

और जब प्रेम बिना ढहे स्थिर रहता है, तो वह स्मृति या नॉस्टैल्जिया में समाप्त नहीं होता। वह समझ के रूप में स्थिर हो जाता है। वह शांत विश्वास बन जाता है कि जो कुछ भी उठे, उससे सामना किया जा सकता है, और जो कुछ भी क्षीण हो, वह यथार्थ को नहीं हिलाता।

यही कृष्ण-लिविंग का अंतिम द्वार था—
ऐसा द्वार जो बाहर नहीं खुलता, बल्कि पीछे से मृदुता से बंद हो जाता है।
और फिर कुछ खोजने की आवश्यकता नहीं रहती।
कुछ धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती।

केवल जीवन शेष रहता है—
पूर्ण रूप से जिया हुआ,
स्पष्ट रूप से देखा हुआ,
और पूरी तरह विश्वस्त।

जो प्रेम बिना ढहे स्थिर रहता है, वही समाधि बन जाता है।

सनातन धर्म - जीया हुआ अनुभव
खंड द्वितीय: कृष्ण-जीवन

पुस्तक : भाग पाँच
रस का प्रत्याहार – जब माधुर्य अपना कार्य पूर्ण कर चुका

विषय-सूची:

अध्याय 1: स्वाभाविक प्रत्याहार
अध्याय 2: वह सुगंध जिसने जीवन की रक्षा की
अध्याय 3: माधुर्य से शक्ति की ओर

अध्याय 1: स्वाभाविक प्रत्याहार

यह अध्याय कृष्ण-जीवन के चरण की शांत पूर्णता को चिह्नित करता है। यह किसी पतन, हानि या विमुखता का वर्णन नहीं करता, बल्कि एक स्वाभाविक स्थिरता का—जहाँ माधुर्य अपना कार्य पूर्ण करके बिना किसी प्रतिरोध के स्वयं पीछे हट जाता है। जिसने प्रेमयोगी को भीतर से परिष्कृत किया था, उसे अब सक्रिय बने रहने की आवश्यकता नहीं थी। यह प्रत्याहार न तो थोपा गया था, न ही चुना गया था। यह इसलिए घटित हुआ क्योंकि उसका उद्देश्य पूर्ण हो चुका था।

कृष्ण-जीवन अपने स्वभाव से ही स्थायी नहीं होता। यह जीवन का एक चरण है, कोई स्थायी अवस्था नहीं। यह आता है, तीव्रता से प्रज्वलित होता है, अपना कार्य पूर्ण करता है और फिर हट जाता है—जैसे बचपन का खेल परिपक्वता के आने पर स्वतः छूट जाता है, और जैसे फल बनने पर फूल झर जाता है। प्रेमयोगी ने इस प्रत्याहार को किसी हानि के रूप में अनुभव नहीं किया। न कोई शोक था, न भय, और न ही पकड़कर रखने का प्रयास। तीव्रता अपने आप मृदु हो गई, मानो जीवन स्वयं जानता हो कि कब पर्याप्त हो चुका है।

जिस आकर्षण में कभी इतनी शक्ति थी, वह अब ध्यान की माँग नहीं करता था। वह न तो अचानक ढह गया, न ही नाटकीय रूप से गायब हुआ। वह बस धीरे-धीरे, बुद्धिमत्तापूर्वक क्षीण हो गया। आंतरिक छवि की धार कम होने लगी। जो खिंचाव पहले चुंबकीय लगता था, वह पहले हल्का हुआ, फिर तटस्थ। वर्षों से जो ऊर्जा नृत्य कर रही थी, वह अब स्थिर होने लगी। इस स्थिरता ने शून्यता नहीं पैदा की; इसने तत्परता को जन्म दिया।

ऐसा कोई भाव नहीं था कि कुछ बहुमूल्य हाथ से निकल रहा है। इसके विपरीत, प्रेमयोगी के भीतर एक शांत संतोष था, जैसे कोई दीर्घ कार्य सफलतापूर्वक पूरा हो गया हो। जिसे परिष्कृत होना था, वह परिष्कृत हो चुका था। जिसे मृदु होना था, वह मृदु हो चुका था। रस अपना कार्य कर चुका था।

यहाँ एक महत्वपूर्ण भेद है: यह प्रत्याहार त्याग नहीं था। प्रेमयोगी ने किसी अनुशासन या नैतिक संकल्प के कारण माधुर्य से मुँह नहीं मोड़ा। न ही उसने आकर्षण को दबाया या भावना का निषेध किया। प्रत्याहार इसलिए हुआ क्योंकि आंतरिक तंत्र को अब उस सीखने की पद्धति की आवश्यकता नहीं रही। जैसे बच्चा बिना बताए खिलौनों से आगे बढ़ जाता है, वैसे ही प्रेमयोगी बिना प्रयास के कृष्ण-जीवन की तीव्रता से आगे बढ़ गया।

कुंडलिनी की भाषा में, ऊर्जा न तो नीचे गिरी और न ही ऊपर की ओर दौड़ी। वह बस उसी प्रकार से परिक्रमा करना बंद कर गई। जो चक्र कभी रस को बनाए रखता था, वह इसलिए ढीला पड़ा क्योंकि वह असफल हुआ था ऐसा नहीं, बल्कि इसलिए कि वह अपना फल दे चुका

था। तंत्रिका तंत्र को संतुलित रहने के लिए अब उस लय की आवश्यकता नहीं थी। उसके नीचे एक गहरी स्थिरता बन चुकी थी।

जो शेष रहा, वह अत्यंत सूक्ष्म था—पहले तो लगभग अगोचर। जो माधुर्य कभी उसके दिनों को भर देता था, वह अब पृष्ठभूमि में शांत होकर ठहर गया, जैसे फूल झर जाने के बाद भी उसकी सुगंध बनी रहती है। वह स्वयं को घोषित नहीं करता था। वह ध्यान नहीं माँगता था। वह बस उपलब्ध रहता था, बिना प्रयास के अनुभूति को आकार देता हुआ।

प्रेमयोगी ने देखा कि उसका दैनिक जीवन सहज रूप से चलता रहा। अध्ययन में कोई व्यवधान नहीं, संबंधों में कोई उद्वेग नहीं, और संसार में रुचि का कोई ह्रास नहीं। यदि कुछ बदला तो जीवन और सरल हो गया। भावनात्मक शिखरों की आवश्यकता समाप्त हो गई। साधारण क्षण पर्याप्त लगने लगे। पूर्व की तीव्रता ने उसे अच्छी तरह प्रशिक्षित कर दिया था; अब उसकी आवश्यकता नहीं रही।

इस चरण ने उसे एक बात सिखाई जो आगे चलकर बहुत स्पष्ट हुई: सभी आध्यात्मिक गतियाँ बनाए रखने के लिए नहीं होतीं। कुछ पूर्ण होने के लिए होती हैं। अनेक लोग यह भूल कर बैठते हैं कि किसी चरण को उसके प्राकृतिक जीवनकाल से आगे भी बनाए रखना चाहिए। जब माधुर्य को उसके कार्य पूर्ण हो जाने के बाद भी जबरन रोका जाता है, तो वह जड़ता बन जाता है। जब आकर्षण को कृत्रिम रूप से थामे रखा जाता है, तो वह आसक्ति बन जाता है। कृष्ण-जीवन इस फंदे से इसलिए बचता है क्योंकि वह स्वयं ही पीछे हट जाता है।

प्रेमयोगी ने पूर्व अवस्था को पुनः रचने का प्रयास नहीं किया। उसने स्मृतियों का पीछा नहीं किया और न ही पुरानी भावनाओं को पुनर्जीवित करने की चेष्टा की। उसने इस क्षीण होने को बिना हस्तक्षेप के घटित होने दिया। यह गैर-हस्तक्षेप स्वयं में एक प्रकार की बुद्धि था, यद्यपि उस समय उसने इसे ऐसा नाम नहीं दिया। जीवन इस प्रक्रिया का मार्गदर्शन विचार से कहीं अधिक सटीक ढंग से कर रहा था।

पहचान में भी कोई नाटकीय परिवर्तन नहीं आया। वह अचानक न तो "कम आध्यात्मिक" हुआ, न अधिक सांसारिक। वास्तव में, इसके विपरीत हुआ। कृष्ण-चरण में प्राप्त परिष्कार पहले ही उसके व्यवहार, अनुभूति और मूल्यों में समाहित हो चुका था। संवेदनशील होने के लिए अब उसे माधुर्य की आवश्यकता नहीं थी। संवेदनशीलता स्वाभाविक बन चुकी थी।

कृष्ण की कथाओं में भी लीला अनंत काल तक नहीं चलती। उसका खेल तब समाप्त होता है जब उसका प्रयोजन पूरा हो जाता है। कृष्ण सदा वृंदावन में नहीं रहते। वे आगे बढ़ते हैं—इसलिए नहीं कि लीला विफल हुई, बल्कि इसलिए कि वह सफल हुई। प्रेमयोगी ने यही बुद्धि

अपने जीवन में भी कार्यरत महसूस की। खेल समाप्त हो चुका था, और उसे दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

महत्वपूर्ण यह है कि इस प्रत्याहार से शुष्कता नहीं आई। बहुत से लोग भयभीत होते हैं कि माधुर्य के क्षीण होने पर जीवन नीरस या यांत्रिक हो जाएगा। यहाँ ऐसा नहीं हुआ। जो मृदु हुआ, वह तीव्रता थी—गहराई नहीं। जो ढीला पड़ा, वह आकर्षण था—जागरूकता नहीं। जो आंतरिक शांति आई, वह रिक्त नहीं थी; वह स्थिर थी।

उसने पाया कि अब उसे जीवंत महसूस करने के लिए भावनात्मक गति पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। पहले रस विकास का वाहन था। अब विकास को किसी वाहन की आवश्यकता नहीं रही। यह जड़ता नहीं थी। यह पूर्णता थी।

कभी-कभी पूर्व की छवि की क्षीण छायाएँ उभरतीं, पर उनमें कोई आवेश नहीं होता। वे उसे बाहर नहीं खींचतीं। न वे उत्कंठा जगातीं, न प्रतिरोध। वे दूर की प्रतिध्वनियों की तरह गुजर जातीं—पहचानी जातीं, पर उनका अनुसरण नहीं होता। यह तटस्थता नई थी और इसने पुष्टि की कि कुछ मूलभूत रूप से बदल चुका है।

इस चरण की सबसे उल्लेखनीय विशेषता उसकी सहजता थी। स्वयं को सँभालने का कोई भाव नहीं था। कोई आंतरिक निगरानी नहीं। कोई सतर्कता नहीं। जीवन बिना घर्षण के आगे बढ़ता रहा। यही सहजता इस बात का सबसे स्पष्ट संकेत थी कि यह चरण सही ढंग से पूर्ण हुआ है।

प्रेमयोगी ने बाद में समझा कि इस प्रकार का प्रत्याहार दुर्लभ है, क्योंकि इसके लिए विश्वास चाहिए। बहुत से लोग उस चीज़ से चिपके रहते हैं जिसने कभी अर्थ दिया था, इस भय से कि उसके बिना दिशा खो जाएगी। पर कृष्ण-जीवन पीछे भ्रम नहीं छोड़ता। वह तत्परता छोड़ता है।

इस चरण के अंत तक प्रेमयोगी को यह नहीं लगा कि उसने कृष्ण को खो दिया है। उसे यह अनुभव हुआ कि कृष्ण ने उसे उस विशेष ढंग से सिखाना पूर्ण कर लिया है। माधुर्य लुप्त नहीं हुआ; वह अवशोषित हो गया। फूल झर गया था, पर फल अदृश्य रूप से बनना शुरू हो चुका था।

इस अध्याय का अंत किसी मोड़ या नए आरंभ से नहीं होता। इसका अंत शांत पूर्णता में होता है। कुछ नाटकीय घटित नहीं हुआ। कुछ घटित होने की आवश्यकता भी नहीं थी।रस अपना कार्य पूर्ण कर चुका था।

अध्याय 2: वह सुगंध जिसने जीवन की रक्षा की

यह अध्याय उस अवस्था का अन्वेषण करता है जो गहन आंतरिक जीवन के एक तीव्र चरण के शांत रूप से पीछे हट जाने के बाद शेष रह जाती है। यह न तो निरंतरता का वर्णन है, न पुनरावृत्ति का, और न ही स्मृतिमय विषाद का। इसके स्थान पर यह दिखाता है कि परिष्कार, जब पूर्ण हो जाता है, तो संरक्षण में बदल जाता है। यहाँ कृष्ण-जीवन अब दहकता नहीं है; वह स्थिर हो जाता है। जिसने कभी प्रेमयोगी को रूपांतरित किया था, वही अब उसे साधारण जीवन के भीतर—मौन रूप से, अदृश्य ढंग से और विश्वसनीय रूप से—संरक्षित करने लगता है।

जब कृष्ण-जीवन का माधुर्य पीछे हटा, तो कुछ भी नाटकीय नहीं हुआ। न कोई रिक्तता थी, न पतन, न किसी हानि का अनुभव। जीवन बस चलता रहा, पर एक सूक्ष्म अंतर के साथ, जिसे उस समय प्रेमयोगी दूसरों को समझा नहीं सकता था। आकर्षण मृदु हो गया था। आभा मंद पड़ गई थी। आंतरिक छवि अब ध्यान की माँग नहीं करती थी। फिर भी कुछ अनिवार्य तत्व सुरक्षित रहा, जैसे फूल की पंखुड़ियाँ झर जाने के बाद भी उसकी सुगंध बनी रहती है।

यह शेष कोई आकर्षण नहीं था। यह भावनात्मक अर्थों में स्मरण भी नहीं था। यह उत्कंठा नहीं थी। यह बिना वाणी का मार्गदर्शन था।

प्रेमयोगी ने इसे पहले छोटे-छोटे, लगभग साधारण से तरीकों में अनुभव किया। वे परिस्थितियाँ जो सामान्यतः लोगों को अश्लीलता, अतिरेक या लापरवाह भोग में खींच लेती हैं, उसे पकड़ ही नहीं पाती थीं। ऐसा नहीं था कि संसार से प्रलोभन समाप्त हो गया था। बल्कि उसके प्रति उसकी आंतरिक प्रतिक्रिया बदल चुकी थी। खिंचाव कमज़ोर था, अल्पकालिक था, और अक्सर संघर्ष बनने से पहले ही विलीन हो जाता था। जहाँ अन्य लोग द्वंद्व अनुभव करते थे, वहाँ उसे ठहराव मिलता था। जहाँ अन्य लोग बाध्यता अनुभव करते थे, वहाँ उसे विकल्प दिखाई देता था।

जो ध्यान-छवि कभी तेज़ी से दमकती थी, वह अब एक शांत प्रहरी की भाँति कार्य करने लगी। वह स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होती थी, और कई बार प्रकट ही नहीं होती थी। फिर भी जब कुछ सीमाएँ निकट आतीं—भावनात्मक अराजकता, असावधान कामना, नैतिक शॉर्टकट—तो वह एक सूक्ष्म प्रतिरोध, एक मृदु सुधार के रूप में स्वयं को महसूस कराती थी; न कभी कठोर, न कभी नैतिकतावादी। वह "मत करो" नहीं कहती थी। वह बस गलत दिशा में पूर्ण गति बनने नहीं देती थी।

यह अनुशासन नहीं था। प्रेमयोगी पारंपरिक अर्थों में कभी अनुशासित नहीं रहा। यह परिष्कार था जो संरक्षण के रूप में अभिव्यक्त हो रहा था।

वर्षों के कठोर अध्ययन, दबाव और थकान के बीच यह आंतरिक सुगंध निरंतर कार्य करती रही। चिकित्सकीय शिक्षा, अपने थकाऊ कार्यक्रम और लंबे घंटों के साथ, अक्सर लोगों की संवेदनशीलता और संतुलन छीन लेती है। अनेक लोग टूट जाते हैं, कठोर हो जाते हैं, या लत और अतिरेक में पलायन खोजते हैं। प्रेमयोगी भी उन्हीं दबावों से गुज़रा, पर कोई चीज़ उसे बचाए रखती थी। अकेलापन हताशा में नहीं बदला। थकान उच्छृंखलता में नहीं फूटी। थके होने पर भी, निराश होने पर भी, एक रेखा कभी पार नहीं हुई।

उसे कभी श्रेष्ठ होने का भाव नहीं आया। वास्तव में, वह संरक्षण घटित होते समय प्रायः उसे महसूस भी नहीं करता था। पीछे मुड़कर देखने पर ही उसे समझ आया कि कितने जाल उसे पकड़ने में असफल रहे।

यह आंतरिक अवशेष लोगों से उसके संबंधों को भी बदलने लगा। युवावस्था में भावनात्मक उलझनें जो अक्सर अस्थिरता लाती हैं, वे उसे गहराई से उलझा नहीं सकीं। स्नेह उपजा, संबंध बने, पर आसक्ति ने जड़ नहीं पकड़ी। जहाँ अन्य लोग लालसा और पलायन के बीच डोलते रहे, प्रेमयोगी स्थिर रहा। संबंध पहचान या मान्यता के युद्धक्षेत्र नहीं बने। हृदय खुला रहा, पर आश्रित नहीं हुआ।

यहीं कृष्ण-राधा का समानांतर सूक्ष्म रूप से प्रासंगिक हो जाता है। जैसे कृष्ण का जीवन विरह के बाद भी नहीं टूटा, वैसे ही बाह्य रूपों के बदलने पर प्रेमयोगी का आंतरिक जीवन खंडित नहीं हुआ। विवाह उसके जीवन में बाद में आया–किसी विघ्न के रूप में नहीं, बल्कि एक भिन्न तल पर निरंतरता के रूप में। पूर्व परिष्कार ने यह सुनिश्चित किया कि विवाह किसी अभाव की भरपाई न बने, न ही अनसुलझी कामनाओं का बोझ उठाए। प्रेम और शांत, स्थिर और अधिक मानवीय हो गया।

आंतरिक छवि अब प्रेमिका के रूप में कार्य नहीं करती थी। वह दिशा-सूचक बन चुकी थी।

यह दिशा-सूचक उसे केवल भोग से ही नहीं, कटुता से भी बचाती थी। अनेक लोग, जब जीवन उत्तरदायित्वों से भारी हो जाता है, तो कोमलता खो देते हैं। वे कठोर, असंतुष्ट या निंदक बन जाते हैं। प्रेमयोगी ऐसा नहीं हुआ। दबाव में भी, अक्षमता, अन्याय या कठिन लोगों से निपटते समय भी, कुछ था जो उसे कठोर होने से रोकता था। क्रोध उठा, पर उसने क्षरण नहीं किया। निराशा आई, पर उसने दृष्टि को विषाक्त नहीं किया।

यह संरक्षण पूर्णता नहीं था। उसने भूलें कीं। लोगों का आकलन गलत किया। कभी-कभी अति कर बैठा। पर पतन कभी नहीं हुआ। पुनर्संतुलन शीघ्र लौट आया।

कुंडलिनी की भाषा में, पूर्व की ऊर्जा-परिक्रमा ने उसके तंत्रिका तंत्र को पुनर्गठित कर दिया था। नाड़ियाँ अतिरेक के बिना प्रवाह सीख चुकी थीं। ऊर्जा घटती भी तो जड़ नहीं बनती थी। तनाव बढ़ता भी तो विस्फोट नहीं होता था। तंत्र को माधुर्य ने प्रशिक्षित किया था, बल ने नहीं। और वही प्रशिक्षण टिक गया।

यह संरक्षक गुण व्यावसायिक जीवन में भी विस्तृत हुआ। अधिकार मिला तो नशा नहीं चढ़ा। उत्तरदायित्व बढ़ा तो अहंकार नहीं फूला। प्रेमयोगी ने देखा कि वह निर्णय कठोर हुए बिना ले सकता है, और मानक कठोर हुए बिना लागू कर सकता है। वह अपमानित किए बिना असहमति जता सकता है, प्रभुत्व के बिना सुधार कर सकता है। यह कहीं सिखाया नहीं गया था। यह परिष्कार का अवशेष था।

इस सुगंध का सबसे आश्चर्यजनक पक्ष उसकी अदृश्यता थी। आसपास का कोई व्यक्ति इसकी उपस्थिति का अनुमान नहीं लगा सकता था। न कोई संकेत, न भाषा, न आध्यात्मिक प्रदर्शन। इसने उसे समाज से अलग नहीं किया, न ही भिन्न चिह्नित किया। इसके विपरीत, इसने उसे अधिक उपलब्ध, अधिक सजग, अधिक उपस्थित बना दिया। वह अधीर हुए बिना सुन सकता था। स्वयं को खोए बिना संलग्न हो सकता था।

यहीं बहुत लोग आध्यात्मिक चरणों को गलत समझ लेते हैं। वे मान लेते हैं कि जब तीव्रता घटती है, तो सत्य भी घट जाता है। प्रेमयोगी ने इसके विपरीत सीखा। रूपांतरण के लिए तीव्रता आवश्यक होती है। एक बार रूपांतरण पूर्ण हो जाए, तो तीव्रता पीछे हट जाती है। जो शेष रहता है, वह विश्वसनीयता है।

जागरण में तीव्रता की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। तीव्रता ही व्यक्ति को अनुभव के शिखर तक उठाती है, जहाँ आत्म-बोध की झलक संभव होती है। जब ऐसी झलक घटित होती है, तो मनोविज्ञान में कुछ निर्णायक होता है: सांसारिक दृष्टि से, कुछ भी उच्चतर प्राप्त करने योग्य शेष नहीं लगता। मन, जो असंख्य रूपों में पूर्णता खोज रहा था, ऐसी संपूर्णता का स्वाद चख लेता है जो खोज का अंत कर देती है। इसके बाद ही गहन सत्य–शून्यता, निर्विकल्प–का अर्थ स्पष्ट होने लगता है।

इससे पूर्व शून्यता को वास्तव में अपनाया नहीं जा सकता। यदि तीव्र सांसारिक और आंतरिक अनुभव की पूर्णता के बिना उसे समय से पहले छुआ जाए, तो वह अंधकारमय, अमूर्त और अस्थिर बनी रहती है। मन में अभी भी अपूर्ण कामनाएँ, अप्रकट आकांक्षाएँ और दबी हुई तीव्रता रहती है। ऐसा मन यदि बलपूर्वक शून्यता में विश्राम करना चाहे, तो शून्यता टिकती नहीं। किसी भी क्षण वह संसार की ओर तीव्र प्रतिक्षेप कर सकती है–कभी-कभी पहले से अधिक बल के साथ। जो विरक्ति प्रतीत होती है, वह अचानक लालसा, भोग या भ्रम में ढह सकती है। कुछ मामलों में यह मनोवैज्ञानिक रूप से हानिकारक भी हो सकता है।

समझ से रहित शून्यता का अंधकार स्वयं एक उत्तेजक बन सकता है। कामना को विलीन करने के बजाय वह मन को चमक, संवेदना और तीव्रता की ओर और अधिक व्यग्रता से धकेल सकता है। इसी कारण केवल प्रत्याहार, दमन या समयपूर्व त्याग प्रायः स्थिरता तक नहीं पहुँचते।

मार्गदर्शन, साकार गुरु का सान्निध्य और क्रमिक स्पष्टता इस प्रतिक्षेप को कुछ हद तक कम कर सकते हैं। उचित आधार के साथ, निर्विकल्प अवस्थाओं का आरंभिक स्पर्श भी अपेक्षाकृत सुरक्षित बनाया जा सकता है। फिर भी ऐसी स्थिरता जाग्रत पुरुष की स्थिरता के समान नहीं होती–उसकी, जिसने तीव्रता के माध्यम से पूर्णता का स्वाद चख लिया हो और जिसके भीतर कोई अचेतन भूख शेष न हो।

इसका अर्थ यह नहीं कि सविकल्प जागरण से पूर्व निर्विकल्प अनुभवों से बचना चाहिए। अन्वेषण स्वाभाविक है, और प्रयास स्वतः उत्पन्न हो सकते हैं। पर उनके लिए अतिरिक्त सावधानी, विनम्रता और सहारा आवश्यक है। इसके बिना शून्यता नाज़ुक भूमि बनी रहती है।

केवल तब, जब तीव्रता अपना कार्य पूर्ण कर ले–केवल तब, जब संसार को पूरी तरह चखा और पारदर्शी देखा जा चुका हो–तब शून्यता भयावह के स्थान पर प्रकाशमान बनती है। तब निर्विकल्प जीवन को ठुकराने वाला अंधकार नहीं, बल्कि ऐसा मौन बन जाता है जो उसे बिना प्रतिक्षेप के धारण कर सकता है।

कृष्ण-जीवन ने हृदय को परिष्कृत करके अपना कार्य पूर्ण किया था। वही परिष्कार अब प्रतिरक्षा-तंत्र की भाँति कार्य कर रहा था। उसने संसार से संपर्क नहीं रोका; उसने उससे भ्रष्ट होने से बचाया।

कभी-कभी आंतरिक छवि क्षीण रूप में उभरती–थकान, बीमारी या भावनात्मक दबाव में–पर उसमें कोई आवेश नहीं होता। न कोई खिंचाव, न उत्कंठा, न विक्षोभ। वह एक परिचित उपस्थिति की तरह प्रकट होती, स्वीकार की जाती और आगे बढ़ जाती। वह पवित्र, तटस्थ और सबके समान हो चुकी थी।

इसी कारण कुछ भी खोया नहीं गया।

लोग सामान्यतः चरणों के समाप्त होने पर पहचान खो देते हैं। प्रेमयोगी ने चरण के साथ अपनी पहचान नहीं जोड़ी थी। उसने उसे पूर्ण रूप से जिया, पर हल्केपन के साथ। इसी कारण वह बिना किसी क्षति के विदा हो सका।

पीछे मुड़कर देखने पर उसे समझ आया कि कृष्ण-जीवन कभी स्थायी अग्नि बनने के लिए नहीं था। वह धातु को तपाने के लिए था। एक बार धातु तप जाए, तो अग्नि स्वयं पीछे हट जाती है।

यह अध्याय एक सरल पहचान के साथ समाप्त होता है: माधुर्य चला गया, पर सुरक्षा शेष रही। आभा मद्धिम हो गई, पर स्पष्टता बनी रही। खेल समाप्त हो गया, पर उसका अनुशासन अस्थियों में उतर चुका था।

कृष्ण-जीवन अब दहकता नहीं था,
पर वह उसकी रक्षा करता रहा।

अध्याय 3: माधुर्य से शक्ति की ओर

(कार्य: संक्रमण – कृष्ण और शक्ति के बीच का शांत मोड़)

यह अध्याय उस क्षण को चिह्नित करता है जब माधुर्य अपना कार्य पूरा कर लेता है और भीतर कुछ अधिक सशक्त अपना स्थान माँगने लगता है। यह न प्रेम से पतन है, न भक्ति का निषेध, बल्कि एक स्वाभाविक आंतरिक संक्रमण है। यहाँ प्रेमयोगी का जीवन कृष्ण से दूर नहीं जाता; वह कृष्ण के माध्यम से किसी और अवस्था में प्रवेश करता है। जो कभी पोषण था, अब अपर्याप्त होने लगता है। जो कभी उसे बचाता था, वही अब उसे शक्ति के लिए तैयार करता है। यह अध्याय परिष्कार और निर्माण, रस और उत्तरदायित्व के बीच सेतु के रूप में खड़ा है।

लंबे समय तक माधुर्य पर्याप्त था। प्रेमयोगी का आंतरिक जीवन कोमलता, भक्ति और एक सौम्य ऊष्मा के साथ बहता रहा, जिसने अस्तित्व को सुरक्षित अनुभव कराया। हृदय ने बिना घायल हुए खुला रहना सीख लिया था, बिना टूटे प्रेम करना सीख लिया था, और बिना प्रयास स्मरण में टिकना सीख लिया था। यह माधुर्य भावुकता नहीं था; यह स्थिरता देने वाला था। इसने उसकी प्रवृत्तियों को परिष्कृत किया, कामना को शुद्ध किया और मन को रूखा या आक्रामक बनने से रोका। कृष्ण-जीवन ने अपना कार्य पूर्ण रूप से कर दिया था।

और फिर भी, धीरे-धीरे कुछ बदलने लगा।

यह असंतोष या बेचैनी के रूप में नहीं आया। यह ऊब के रूप में आया–सूक्ष्म, शांत, और स्वीकार करने में लगभग संकोचजनक। जीवन से ऊब नहीं थी, बल्कि कोमलता से ऊब थी। जो माधुर्य कभी मुक्तिदायक लगता था, अब दोहराव जैसा लगने लगा। जो कोमलता कभी उपचार करती थी, अब अपर्याप्त प्रतीत होने लगी। हृदय भरा हुआ था, पर भीतर कुछ गहरा खड़े होना चाहता था।

यह ऊब दोष नहीं थी। यह बुद्धि थी।

प्रेमयोगी ने देखा कि उसकी आंतरिक दुनिया पर हावी स्त्री-स्वर–प्रवाहमान, ग्रहणशील, भक्तिमय–अब भीतर बढ़ती ऊर्जा को सँभालने के लिए पर्याप्त नहीं रहा। माधुर्य पीड़ा को धारण कर सकता था, पर शक्ति को दिशा नहीं दे सकता था। प्रेम तनाव को घुला सकता था, पर बल को संगठित नहीं कर सकता था। आंतरिक जगत शांत हो चुका था, पर अब केवल शांति ही प्रश्न नहीं रही थी। दिशा महत्त्वपूर्ण होने लगी थी।

यह एक कम कही जाने वाली सच्चाई है: माधुर्य संरचनाएँ नहीं बना सकता। वह परिष्कृत कर सकता है, पर आदेश नहीं दे सकता।
कृष्ण-जीवन हृदय को परिष्कृत करता है, पर रीढ़ का निर्माण नहीं करता।

परिवर्तन अचानक नहीं हुआ। पुरानी आंतरिक छवि, जो कभी उज्ज्वल चमकती थी, धीरे-धीरे अपना भावनात्मक आवेश खोने लगी। वह न तो गायब हुई, न पीड़ादायक बनी। उसने बस नेतृत्व करना बंद कर दिया। जो स्मरण कभी ऊष्मा वहन करता था, अब निष्क्रिय, लगभग सजावटी-सा लगने लगा। प्रेमयोगी ने उसे धकेला नहीं; उसने बस उस पर निर्भर रहना छोड़ दिया।

उसके स्थान पर कुछ और प्रकट होने लगा—न भावना के रूप में, न स्पष्ट छवि के रूप में, बल्कि एक स्वर के रूप में। वह कुछ हद तक छवि-जैसा था, पर पूरी तरह छवि नहीं था। उसमें न भावनात्मक आवेश था, न खिंचाव, न ध्यान माँगने वाला माधुर्य। वह स्मृति से जन्मे स्मरण की तरह व्यवहार नहीं करता था। वह कामना से उत्पन्न नहीं हुआ था।

ऐसी उपस्थिति केवल गहन वैराग्य से ही उभर सकती है। केवल वही संत, जो तृष्णा से आगे निकल चुका हो, या राधा-सदृश स्त्री, जो बिना अधिकार के प्रेम करती हो, इस प्रकार की छाप छोड़ सकती है। यह माँग के बिना रूप है, भावना के बिना स्मृति है, खिंचाव के बिना उपस्थिति है।

क्योंकि उसमें कोई भावनात्मक आवेश शेष नहीं था, मन उससे चिपका नहीं।
और क्योंकि मन चिपका नहीं, वह पुनः आसक्ति में नहीं गिरा।
और क्योंकि आसक्ति जल चुकी थी, छवि अब वस्तु की तरह काम नहीं करती थी—वह तटस्थ, पवित्र और सबके समान हो चुकी थी, यहाँ तक कि उसके अपने गहनतम आत्म-बोध के भी समान।

पूर्व में, आनंद और तल्लीनता के क्षणों में, एक भिन्न उपस्थिति कभी-कभी पृष्ठभूमि में झिलमिलाती थी: दादा गुरु की छवि। उस समय वह गौण, लगभग प्रतीकात्मक बनी रही थी। अब, बिना प्रयास और बिना उद्देश्य के, वह केंद्र में आने लगी। आंतरिक अभिमुखता स्त्री से पुरुष की ओर, पिघलने से खड़े होने की ओर, माधुर्य से स्पष्टता की ओर स्थानांतरित होने लगी।

यह भी संयोग नहीं था कि इस चरण में प्रेमयोगी को अपना निवास-स्थान बदलना पड़ा। पेशेवर माँगों, सामाजिक उत्तरदायित्वों और व्यावहारिक आवश्यकताओं ने धीरे-धीरे उसे पुराने परिवेश से हटा दिया। नया स्थान सौंदर्य-प्रधान नहीं था, न भावनात्मक रूप से आवेशित, न माधुर्य के अनुकूल। वह अधिकतर अधिकार, अनुशासन और पदानुक्रम से निर्मित स्थान था—

रस-प्रधान नहीं, गुरु-प्रधान। इस परिवर्तन ने भीतर दादा गुरु की छवि के उदय को स्वाभाविक रूप से सहारा दिया।

आंतरिक अग्नियाँ तभी बढ़ती हैं जब बाहरी परिस्थितियाँ सही दिशा में बदलती हैं। जो माधुर्य को पोषित करता है, वही शक्ति को नहीं पोषित कर सकता। जो भक्ति को टिकाए रखता है, वही संरचना नहीं बना सकता। प्रेमयोगी ने बाद में समझा कि परिवेश स्वयं एक मौन गुरु की तरह कार्य कर रहा था, उसकी आंतरिक विकास-आवश्यकता के अनुरूप स्वयं को संरेखित करते हुए।

कृष्ण का जीवन भी इसी सिद्धांत का अनुसरण करता है। बाल्यकाल में वे गोकुल में रहे, जहाँ मासूमियत और संरक्षण था। वृंदावन में माधुर्य, खेल और प्रेम शिखर पर पहुँचे। मथुरा में शक्ति और उत्तरदायित्व से साक्षात्कार हुआ। और द्वारका में कृष्ण राजत्व, व्यवस्था और आंतरिक मौन में स्थित हुए। ये स्थान-परिवर्तन आकस्मिक नहीं थे। प्रत्येक स्थान किसी भिन्न आंतरिक अग्नि की परिपक्वता से जुड़ा था।

माधुर्य को उपजाऊ भूमि चाहिए।
शक्ति को प्रतिरोध चाहिए।
मौन को दूरी चाहिए।

प्रेमयोगी की गति इसी लय का प्रतिबिंब थी। बाल्यावस्था और किशोरावस्था में जीवन ने उसे ऐसे स्थानों में रखा जहाँ सौंदर्य, आकर्षण और रस प्रचुर थे—जहाँ हृदय पूर्ण रूप से खुल सकता था। वयस्कता में परिस्थितियाँ उसे अधिकार, संरचना और उत्तरदायित्व-प्रधान परिवेशों में ले आईं—जहाँ केवल माधुर्य अपर्याप्त होता। और जब सांसारिक परिपक्वता पूरी होने लगी, तो जीवन ने उसे धीरे-धीरे शांत स्थानों की ओर ढकेलना शुरू किया, जहाँ कर्म घटता गया और आंतरिक स्पष्टता गहरी होती गई।

यह परिवर्तन चुना नहीं गया था। यह घटित हुआ। जैसे कृष्ण ने अपने गमन की योजना नहीं बनाई, बल्कि आवश्यकता का प्रत्युत्तर दिया, वैसे ही प्रेमयोगी ने अपने संक्रमणों की रचना नहीं की। वे तब आए, जब पूर्व चरण अपना कार्य पूरा कर चुका था।

बाद में उसे प्रतिरूप स्पष्ट दिखाई दिया:
स्थान आंतरिक आवश्यकता का अनुसरण करता है, सुविधा का नहीं।
पहले माधुर्य बढ़ता है। फिर शक्ति आती है। अंत में मौन।

यह भाग्य नहीं था। यह बुद्धि थी—जीवन स्वयं को इस प्रकार व्यवस्थित कर रहा था कि अगला चरण बिना संघर्ष के आरंभ हो सके।

यह आक्रामकता नहीं थी। यह दृढ़ता थी।

नए स्थान पर प्रेमयोगी का मन भिन्न प्रकार से संगठित होने लगा। विचार कम हुए, पर अधिक तीक्ष्ण। एकांत लालसा जैसा नहीं, बल्कि तैयारी जैसा लगने लगा। मौन अब ऊष्मा नहीं, बल्कि शक्ति अनुभव होने लगा। ऋतंभरा प्रज्ञा मुखर होने लगी। निर्णय स्पष्ट होने लगे। बिना योजना के दिशा उभर आई। बिना बल के अनुशासन प्रकट हुआ।

यही शक्ति का आरंभ था, यद्यपि प्रेमयोगी ने तब उसे यह नाम नहीं दिया।

जो ऊर्जा पहले कोमलता से परिभ्रमण करती थी, अब एकत्र होने लगी। जहाँ कृष्ण-जीवन ने ऊर्जा को मुक्त प्रवाह दिया था, वहीं शक्ति-जीवन ने धारण की माँग की। तंत्रिका तंत्र, जो प्रेम से नरम हुआ था, अब संरचना चाहता था। न कोई दृश्य साधना थी, न घोषित तपस्या, न बाह्य परिवर्तन की घोषणा। प्रेमयोगी के जीवन में बाहर से कुछ भी ऐसा नहीं दिखता था जो निर्णायक परिवर्तन का संकेत दे। और फिर भी भीतर कुछ मौलिक रूप से बदल चुका था।

यह न कोई अनुभव था जिसे दोहराया जाए, न कोई अवस्था जिसे बनाए रखा जाए। यह एक आंतरिक पुनर्संरेखण था, जिसने चुपचाप उसके जीवन की दिशा बदल दी।

इसी परिवर्तन से योग-साधना स्वाभाविक रूप से उभरी—न महत्वाकांक्षा से, न बाहरी अनुशासन से, बल्कि आंतरिक स्पष्टता के प्रत्युत्तर में। न्यूनतावाद भी इसी प्रकार आया। उसने वस्तुओं का त्याग नहीं किया; उसने अतिरिक्त की आवश्यकता ही छोड़ दी। यह गति स्वाभाविक, सहज और अघोषित थी।

इसमें अहंकार नहीं था, क्योंकि कुछ भी जानबूझकर नहीं किया गया था। यह व्यक्तिगत चयन से अधिक जीवन द्वारा स्वयं को व्यवस्थित करने जैसा लगा। जब कर्म कर्तृत्व के बिना उठता है, तो न श्रेय लेने का गर्व रहता है, न पहचान बचाने की चिंता। उसने इसके बारे में बोला नहीं। किसी को समझाने की चेष्टा नहीं की। स्वयं को भी समझाने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

क्योंकि अहं-निवेश नहीं था, इसलिए विक्षेप भी नहीं था। ध्यान में प्रगति शांत रूप से चलती रही—न उतावलेपन के साथ, न प्रदर्शन के साथ। साथ ही, सांसारिक उत्तरदायित्व स्थिरता और कुशलता से निभाए जाते रहे। विकास आंतरिक और बाह्य में विभाजित नहीं हुआ; वह एक ही प्रवाह के रूप में आगे बढ़ा।

यह आध्यात्मिकता का अभिनय नहीं था। यह जिया गया संरेखण था।
और क्योंकि यह दावा नहीं, बल्कि जीवन था, इसलिए स्थिर रहा।

यहीं से तंत्र आरंभ हुआ—न अनुष्ठान के रूप में, न तकनीक के रूप में, बल्कि शक्ति के संगठन के रूप में।

माधुर्य ने उसे अश्लीलता, लत और पतन से बचाया था। अब शक्ति कुछ और माँग रही थी: स्थिरता, स्पष्टता और उत्तरदायित्व। आंतरिक जगत अब केवल पूर्ण अनुभव करने से संतुष्ट नहीं था। वह कर्म करना, निर्माण करना, और स्वयं को खोए बिना संसार से जुड़ना चाहता था।

इसी कारण कृष्ण सदा नहीं रह सकते। गूढ़ कथाओं में भी कृष्ण वृंदावन में नहीं ठहरते। वे आगे बढ़ते हैं—इसलिए नहीं कि प्रेम विफल हुआ, बल्कि इसलिए कि प्रेम ने अपना कार्य पूरा कर लिया। जब हृदय परिष्कृत हो जाता है, तो संसार में पुनः प्रवेश आवश्यक हो जाता है—अब साधक के रूप में नहीं, बल्कि स्थिरता लाने वाली शक्ति के रूप में।

प्रेमयोगी ने इसे सहज रूप से समझा। माधुर्य से हटना हानि नहीं था। यह तैयारी थी। जैसे फल बनने पर पंखुड़ियाँ झर जाती हैं, वैसे ही शक्ति के संचित होने के लिए रस पीछे हटा। यदि माधुर्य आवश्यकता से अधिक टिक जाता, तो आने वाली अवस्था को दुर्बल कर देता।

पीछे देखकर उसे पूरे आंदोलन की बुद्धि स्पष्ट दिखी। कृष्ण-जीवन ने उसे सुरक्षित बनाया। उसके बिना शक्ति खतरनाक हो जाती। कामना के परिष्कार के बिना शक्ति आक्रामक बन जाती। भक्ति के बिना अनुशासन रूखा हो जाता। प्रेम के बिना स्पष्टता अहंकार में बदल जाती।

कृष्ण ने उसे इतना कोमल बना दिया था कि वह बल को सँभाल सके।

यह संक्रमण एक प्रकार की अदृश्यता के अंत और दूसरी के आरंभ का संकेत भी था। पहले उसका आंतरिक जीवन इसलिए छिपा था क्योंकि वह अत्यंत सूक्ष्म था। अब वह इसलिए छिपा क्योंकि वह अत्यंत दृढ़ था। संसार इस परिवर्तन को नहीं देखेगा, पर उसके प्रभावों को बाद में अनुभव करेगा—उसके बोलने, कर्म करने, अन्याय का प्रतिरोध करने और उत्तरदायित्व सँभालने के ढंग में।

यह अध्याय शक्ति-जीवन को पूर्ण नहीं करता। यह केवल द्वार खोलता है।

कृष्ण-चरण शांतिपूर्वक, बिना किसी औपचारिकता के, हस्तांतरण कर देता है। न विदाई है, न पछतावा, न स्मृतिलोप। केवल कृतज्ञता है। माधुर्य समाप्त नहीं होता; वह पृष्ठभूमि में चला जाता है, जहाँ वह शक्ति को नरम करता और बल को मानवीय बनाए रखता है।

इस पुस्तक के अंत में प्रेमयोगी दहलीज़ पर खड़ा है। हृदय परिष्कृत है। रीढ़ जाग रही है। संसार में पुनः प्रवेश होने वाला है—न खेल के रूप में, न भक्ति के रूप में, बल्कि उत्तरदायित्व के रूप में।

कृष्ण ने अपना कार्य कर दिया था।
उन्होंने उसे शक्ति के लिए सुरक्षित बना दिया था।

यह खंड यहीं समाप्त होता है—जहाँ माधुर्य अपना कार्य पूरा कर पथ को मुक्त कर देता है। जो आगे है, वह जिए गए अनुभव का खंडन नहीं करता; उसी पर खड़ा है। अगली गति संरचना, शक्ति और उत्तरदायित्व की है—कैसे प्रेम से परिष्कृत ऊर्जा संसार में भार वहन करना सीखती है। वह यात्रा अगले खंड में खुलती है, रस की निरंतरता के रूप में नहीं, बल्कि उसके परिणाम के रूप में।

निष्कर्ष

जब लीला अपना प्रतिरूप प्रकट करती है

यह समापन अध्याय यात्रा में कोई नई बात जोड़ने के लिए नहीं है, बल्कि उस सत्य को पहचानने के लिए है जो पहले ही जिया जा चुका है। यह प्रेमयोगी के जीवन के बिखरे हुए सूत्रों को साथ रखता है–कुछ सिद्ध करने के लिए नहीं, बल्कि ताकि प्रतिरूप स्वयं बोल सके। जब इन घटनाओं को एक साथ देखा जाता है, तो वे आकस्मिक नहीं लगतीं। वे एक ऐसी संरचना को प्रकट करती हैं, जो प्राचीन शास्त्रों द्वारा प्रतीकात्मक भाषा में अंकित संरचना से बहुत निकटता रखती है।

आरंभ से ही प्रेमयोगी के चारों ओर जीवन असामान्य दबाव में खुलता गया। उसकी बड़ी बहनों की प्रारंभिक मृत्यु ने पारिवारिक क्षेत्र पर गहरा प्रभाव डाला। ये साधारण हानियाँ नहीं थीं; वे अचानक, अस्थिर करने वाली और भावनात्मक रूप से आघातकारी थीं। प्रतीकात्मक स्तर पर वे कृष्ण के शैशव में वर्णित विनाशकारी शक्तियों–कंस, शकटासुर, बकासुर–जैसी प्रतीत होती हैं, जो चेतना के स्थिर होने से पहले ही आक्रमण करती हैं। स्वयं जीवित रहना ही पहली दीक्षा बन गया। जो बचा रहा, वह भीतर से सशक्त होता गया।

बाल्यावस्था और किशोरावस्था में प्रेमयोगी का जीवन गहन सामंजस्य, खेल, आकर्षण और आंतरिक आनंद के चरण में प्रवेश करता है। यह कृष्ण-लीला का चरण था–मधुर, अवशोषक और गहराई से गढ़ने वाला। पर जैसे ही इस लीला ने अपना कार्य पूरा किया, बाह्य संसार कोमल नहीं रहा। समाज शीघ्र ही अधिक अराजक, प्रतिस्पर्धी और यांत्रिक रूप में बदल गया। आधुनिक दबावों ने पहले की सरलता का स्थान ले लिया। यह संक्रमण एक अन्य प्राचीन घटना की स्मृति दिलाता है–कृष्ण के दृश्य प्रस्थान के बाद यादव वंश का क्षय। जब लीला हटती है, संसार पुनर्गठित होता है। माधुर्य जटिलता में बदल जाता है।

यही प्रतिरूप विस्तृत परिवार में भी दोहराया गया। प्रेमयोगी के पिता और उनके चार सगे भाई पाँच पांडवों की तरह एक साथ खड़े थे–संयमी, अनुशासित और अंतर्मुखी। उनके विपरीत एक असगा चाचा था, जिसका प्रभाव संख्या से कहीं अधिक था। उसके चारों ओर अतिशयता की आदतें थीं–अनावश्यक उपभोग, अवैज्ञानिक खान-पान, व्यभिचार में उलझाव, जुए की प्रवृत्ति और समय की दीर्घकालिक बर्बादी। रक्त-संबंध में अकेला होते हुए भी वह व्यवधान में अनेक जैसा कार्य करता था–प्रतीकात्मक रूप से सौ कौरवों के समकक्ष।

इस चाचा द्वारा धीरे-धीरे भूमि और भौतिक लाभ हथियाए जाने के बावजूद, प्रेमयोगी के निकट परिवार ने कहीं अधिक मूल्यवान वस्तु सुरक्षित रखी–आंतरिक संतोष, आध्यात्मिक अभिमुखता और गरिमा। वे कटुता या अनुकरण में नहीं गिरे। यह विरोधाभास स्पष्ट था। इससे यह संकेत मिला कि संगति का महत्त्व है–केवल भौतिक निकटता का नहीं, बल्कि

उपस्थिति के ऊर्जात्मक प्रभाव का। प्रेमयोगी ने किसी को जानबूझकर सुधारा नहीं, फिर भी उसका होना ही परिस्थितियों को व्यवस्था की ओर झुका देता था। यदि इसमें कृष्ण-सदृश प्रभाव दिखता है, तो वह दैवत्व के दावे से नहीं, बल्कि जिए गए संरेखण से है।

इन पुनरावृत्तियों को—व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक संरचनाओं और ऐतिहासिक प्रतीकात्मकता में—देखने पर भागवत पुराण को केवल मिथक कहकर टालना कठिन हो जाता है। वह अपने समय की भाषा में लिखा एक प्राचीन आध्यात्मिक केस-स्टडी जैसा प्रतीत होने लगता है। पात्र प्रतीकात्मक इसलिए नहीं हैं कि वे काल्पनिक हैं, बल्कि इसलिए कि वे बार-बार उभरने वाली मनोवैज्ञानिक और ऊर्जात्मक संरचनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। समान जागरण युगों में दोहरते हैं, और समान प्रतिरूप उनके पीछे चलते हैं। शास्त्र विश्वास की कथाएँ कम और जिए गए जागरणों के अभिलेख अधिक प्रतीत होते हैं।

प्रेमयोगी के अनुभव से प्रकट हुआ कृष्ण-जीवन कोई अंतिम अवस्था नहीं है। वह आवश्यक किंतु अस्थायी चरण है। वह आकर्षण को परिष्कृत करता है, भावनाओं को शुद्ध करता है और तीव्रता तथा प्रेम के माध्यम से चेतना को स्थिर करता है। जब यह कार्य पूरा हो जाता है, तो उसे हटना ही होता है। यदि माधुर्य बहुत देर तक टिक जाए, तो वह जड़ता बन जाता है। जैसे कृष्ण सदा वृंदावन में नहीं रहते, वैसे ही प्रेमयोगी सदा रस में नहीं रह सकता था।

यह आध्यात्मिक जीवन की एक बड़ी भ्रांति को स्पष्ट करता है। स्थिरता, नैतिकता, संयम और सरलता प्रारंभ-बिंदु नहीं हैं। वे जागरण के बाद के स्थिरीकरण हैं। पहले मनुष्य को उठना होता है—पूर्ण रूप से, तीव्रता से, सजगता के साथ—ताकि वह संसार की चमक में कामना को समाप्त करे और सत्य की झलक पाए। तभी सादा जीवन दमन नहीं, बल्कि स्थिर बनता है। पहले कृष्ण-जीवन आता है; बाद में राम-जीवन। नियम स्वतंत्रता के बाद आता है, उससे पहले नहीं।

प्रेमयोगी को बार-बार संसारिक संलग्नता में लौटाया गया—महत्त्वाकांक्षा से नहीं, बल्कि उसी कृष्ण-तत्त्व द्वारा जिसने पहले उसे भीतर खींचा था। अन्याय के विरुद्ध खड़ा होना, मानवीय व्यवहार का परिष्कार, सेवा-प्रणालियों का सुधार, या जाति और धन के आधार पर भेदभाव से इनकार—ये क्रियाएँ वैचारिक नहीं थीं। वे संरेखण से सहज रूप से उठीं। जैसे कृष्ण सुदामा से मित्रता करते हैं और राजाओं का मार्गदर्शन करते हैं, वैसे ही प्रेमयोगी सामाजिक रूप से उपेक्षित और पेशेवर रूप से शक्तिशाली—दोनों के बीच समान सहजता से रहा।

शास्त्र इन सबके संकेत देते हैं, पर अनुभव का स्थान नहीं ले सकते। प्राचीन ग्रंथ अभिलेख हैं, विकल्प नहीं। वे प्रतिरूप बताते हैं, पर उसे पदार्थ जीवन ही देता है। मूल सिद्धांत वही रहता है—पहले आकाश को स्पर्श करो, फिर धरती पर विश्राम करो।

प्रेमयोगी के पारिवारिक इतिहास की एक घटना, कृष्ण-जीवन की पूरी वक्ररेखा को देखते हुए, नए प्रकाश में लौटी। उसके जागरण से बहुत पहले, उसके पिता–दूरस्थ पहाड़ी क्षेत्रों में शिक्षक रहते हुए–एक बार मानसून से उफनती नदी पार करने को विवश हुए। धारा उग्र थी, पाँव जमाना कठिन, जीवित रहना सुनिश्चित नहीं। फिर भी वे बिना नाटकीयता के सुरक्षित पार हो गए, मानो बाढ़ ने क्षण भर के लिए मार्ग दे दिया हो।

बाद में देखने पर यह आकस्मिक नहीं लगा। सिद्धांत में यह वसुदेव द्वारा उफनती यमुना पार कर कृष्ण को ले जाने की प्राचीन छवि का प्रतिरूप था। नदी लुप्त नहीं होती; वह स्वयं को विनियमित करती है। प्रचुर ऊर्जा होती है, पर वह नष्ट नहीं करती। समानता कथा में नहीं, संरचना में है–जहाँ उच्च चेतना अवतरित होती है, वहाँ जीवन-ऊर्जा उठती है; जहाँ संरेखण होता है, वहाँ तीव्रता हानि के बिना बहती है।

योग-विज्ञान ने सदा जल और ऊर्जा की एक ही भाषा में बात की है। नाड़ियाँ नदियाँ हैं। सुषुम्णा को गंगा कहा गया है। जागरण को उठना, उफान, प्रवाह कहा गया है। ऊर्जा मार्गदर्शित होने पर शुद्ध करती है और अवरुद्ध होने पर अभिभूत करती है। वह चेतना में धारण होने पर पोषण देती है।

इस दृष्टि से, आँधी में कृष्ण के ऊपर फन फैलाए सहस्रफण सर्प की छवि भी नया अर्थ देती है। वह संरक्षण का चमत्कार नहीं, बल्कि चेतना का आरेख है–पूर्णत: खिला सहस्रार, जो तंत्र को अद्वैत में थामे रखता है। जब जागरूकता वहीं विश्राम करती है, बाहरी उथल-पुथल की शक्ति घट जाती है। वर्षा गरज सकती है, पर क्षेत्र एकीकृत रहता है। संरक्षण बल से नहीं, पूर्णता से उत्पन्न होता है–बाहरी हानिकारक, आघातकारी और तूफानी ऊर्जाओं से संरक्षण।

प्रेमयोगी के लिए कृष्ण-चेतना न तो ऊर्जा का दमन है, न उसका उच्छृंखल भोग। वह बुद्धिमान धारण है। ऊर्जा को पूर्ण रूप से उठने दिया जाता है, पर चेतना में थामा जाता है। जहाँ ऊर्जा चेतना के बिना जागती है, वह विनाशक बनती है। जहाँ चेतना ऊर्जा के बिना जागती है, वह शुष्क बनती है। कृष्ण उनका संगम हैं–तरल, प्रत्युत्तरशील और सुरक्षित।

इस दृष्टि से, प्रेमयोगी के पिता द्वारा पार की गई नदी केवल भौतिक बाधा नहीं थी। वह उसी सिद्धांत की प्रारंभिक अभिव्यक्ति थी, जो बाद में प्रेमयोगी में पूर्ण रूप से जिया गया–तीव्रता उपस्थित, खतरा दृश्य, पर संरेखण से पतन टला। जीवन-बल उफना, पर जीवन पर हावी नहीं हुआ।

ऐसे क्षण पीढ़ियों में चुपचाप दोहरते रहे–संकीर्ण बचाव, विजय के बिना धैर्य, भय के बिना अस्तित्व। न पुरस्कार, न दंड–तैयारियाँ। जागरण नाजुक भूमि पर नहीं उतरता। चेतना स्वयं को एक जीवन में प्रकट करने से पहले पीढ़ियों तक क्षेत्र का अंशांकन करती है।

इस समझ ने अनुभव को शास्त्र से या शास्त्र को अनुभव से बचाने की आवश्यकता समाप्त कर दी। दोनों एक ही सत्य को अलग-अलग भाषाओं में कहते थे—एक ने उसे संरक्षित किया, दूसरे ने जिया।

इस प्रकार पुस्तक किसी निष्कर्ष के साथ नहीं, बल्कि एक पहचान के साथ बंद होती है:
जब-जब चेतना जागती है, ऊर्जा उठेगी;
जब-जब ऊर्जा उठेगी, खतरा दिखाई देगा;
और जब-जब अद्वैत जागरूकता अखंड रहेगी,
तब बाढ़ भी मार्ग दे देगी।

यह खंड यहाँ समाप्त होता है इसलिए नहीं कि यात्रा समाप्त हो गई, बल्कि इसलिए कि कृष्ण-चरण अपना कार्य पूरा कर चुका है। खेल हट जाता है। माधुर्य स्थिर हो जाता है। छाप बनी रहती है।

लीला समाप्त होती है।
परिपक्वता रहती है।
प्रतिरूप स्वयं को प्रकट करता है।

और इसी पहचान के साथ **सनातन धर्म - जिया हुआ अनुभव: खंड द्वितीय** बंद होता है—दर्शन की व्याख्या के रूप में नहीं, बल्कि जीवन की समझ के रूप में।

इस पुस्तक को पढ़ने के लिए धन्यवाद।

प्रेमयोगी वज्र द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें (हिंदी)

1. शरीरविज्ञान दर्शन: एक आधुनिक कुण्डलिनी तंत्र (एक योगी की प्रेमकथा)
2. कुण्डलिनी विज्ञान: एक आध्यात्मिक मनोविज्ञान – पुस्तक 4
3. एक आधुनिक कुण्डलिनी तंत्र: एक योगी की प्रेमकथा
4. दिव्य मूँछ-पुराण स्तोत्र: व्यंग्यात्मक अध्यात्म के आलोक में
5. पुराण पहेली: रूपात्मक अध्यात्मविज्ञान की पराकाष्ठा
6. सनातन धर्म: एक *एक जिया हुआ अनुभव* – भीतर की यात्रा और आत्मजागरण
7. स्वयं-प्रकाशन व वेबसाइट निर्माण की कला
8. कुण्डलिनी विज्ञान: एक आध्यात्मिक मनोविज्ञान
9. संभोग से कुंडलिनी जागरण तक: रहस्यात्मक यौनतंत्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण
10. कुण्डलिनी विज्ञान: एक आध्यात्मिक मनोविज्ञान – पुस्तक 5
11. कुण्डलिनी विज्ञान: एक आध्यात्मिक मनोविज्ञान – पुस्तक 3
12. ई-रीडर पर मेरी कुण्डलिनी वेबसाइट
13. क्वांटम एवं अंतरिक्ष विज्ञान में योग: जहाँ विज्ञान समाप्त होता है, वहीं से योग आरम्भ
14. भीष्म पितामह: महायोगी का रहस्य – महाभारत की छिपी योगिक शक्ति
15. वह जो मेरी गुरु बनी
16. तंत्र: ज्ञानों का ज्ञान
17. नाचती नागिन: जब ऊर्जा दिशा सीखती है
18. विपश्यना और कुंडलिनी: इक-दूजे के लिए
19. कुण्डलिनी विज्ञान: निर्विकल्प की यात्रा – पुस्तक 6
20. सांख्य संसार: सांख्य, योग एवं वेदान्त का रोमांचक सम्मिलन
21. अकेले का नाच: अद्वैत भाव से कुंडलिनी जागरण
22. चंद्र-चिकित्सक: पृथ्वी से परे चेतना और जीवन की यात्रा
23. कुण्डलिनी रहस्योद्घाटित: प्रेमयोगी वज्र क्या कहता है
24. ब्लैकहोल की योगसाधना: एक मेल खाती ब्रह्मांड-कथा
25. भीतर की गाय: इंद्रियों, जागरूकता और मुक्ति का शास्त्रीय विज्ञान
26. बहुतकनीकी जैविक खेती एवं वर्षाजल-संग्रहण: एक पर्यावरणप्रेमी योगी की कहानी
27. कुण्डलिनी विज्ञान: एक आध्यात्मिक मनोविज्ञान – पुस्तक 2
28. **क्वांटम दर्शन: क्वांटम स्तर पर शरीरविज्ञान दर्शन**

29. **कृष्ण-जीवन**: *लीला, रस, भक्ति और समाधि के माध्यम से चेतना का विकास-सनातन धर्म – एक जिया हुआ अनुभव श्रृंखला;* **खंड 2**

शृंखला:

1. कुण्डलिनी विज्ञान - एक आध्यात्मिक मनोविज्ञान (पुस्तकें 1-6)
2. *सनातन धर्म – एक जिया हुआ अनुभव* (पुस्तकें 1-2)

पाठक अमेज़न पर या सर्च इन्जंस पर लेखक का नाम सर्च करके पुस्तकें देख सकते हैं।

उपरोक्त सभी पुस्तकें **ऑडियोबुक फ़ॉर्मेट** में भी उपलब्ध हैं।
इन पुस्तकों का विवरण Amazon Author Central, Author Page तथा
वेबसाइट के "Shop (Library)" अनुभाग पर उपलब्ध है:
https://demystifyingkundalini.com/shop

साप्ताहिक लेख (विशेषतः कुंडलिनी-सम्बंधित) प्राप्त करने के लिए
कृपया वेबसाइट को **निःशुल्क फॉलो या सब्सक्राइब** करें:
https://demystifyingkundalini.com

सर्वत्रं शुभमस्तु।

Thanks for reading this book.

Other Books Written by Premyogi Vajra (English)

1. *A New Age Kundalini Tantra: Autobiography of a Love-Yogi*
2. *The Moon Vet: Consciousness, Cosmic Civilizations & Life Beyond Earth*
3. *Kundalini Science: A Spiritual Psychology - Book 5*
4. *Dancing Serpent: The Play of Inner Energies*
5. *Love Story of a Yogi: What Patanjali Says*
6. *Purana Riddles: Decoding the Hidden Meanings of the Puranas*
7. *Tantra: The Ultimate Knowledge*
8. *Kundalini Demystified: What Premyogi Vajra Says*
9. *Organic Planet: Autobiography of an Eco-Loving Yogi*
10. *Comic Mythology: Awakening the Spirit with Beards*
11. *Kundalini Science: A Spiritual Psychology - Book 2*

12. *Sex to Kundalini Awakening: Mystical Sexual Tantra Explained*
13. *She Who Became My Guru*
14. *Mythological Body: A New-Age Physiology Philosophy*
15. *My Kundalini Website on E-Reader*
16. *The Art of Self-Publishing and Website Creation*
17. *Bhishma Pitamaha: The Unsung Mahāyogī*
18. *Kundalini Science: A Spiritual Psychology - Book 4*
19. *Vipassana & Kundalini: Harmonizing Inner Awakening*
20. *Kundalini Science: A Spiritual Psychology - Book 3*
21. *Beyond Kundalini: The Journey to Nirvikalpa - Book 6*
22. *Sanātana Dharma: A Lived Experience*
23. *Sankhya Sansar: Sankhya, Yoga & Vedanta United*
24. *Quantum Science & Space Science in Yoga*
25. *Quantum Darshan: Consciousness, Body & the Quantum Universe*
26. *Blackhole Doing Yoga: A Cosmic Allegory*
27. *The Dance of Unity: Kundalini Through Non-Dual Awareness*
28. Kundalini Science: A Spiritual Psychology
29. Krishna Living: Play, Love, Yoga, and the Evolution of Consciousness- Sanātana Dharma - Lived Experience (Series) Volume II

Series:

1. **Kundalini Science - A Spiritual Psychology (Books 1-6)**
2. **Sanatana Dharma - Lived Experience (Books 1-2)**

Readers can find the books on Amazon by searching the author's name there or on search engines.

All titles are also available in **audiobook format**.
Explore and access them at:
demystifyingkundalini.com/shop

Follow or subscribe (free) to receive weekly insights—especially on Kundalini—and stay connected.

Good luck on your journey, wherever it leads.